.ANGUAGE PAPER

[राजस्थान लोक सेवा आयोग के पाठ्यक्रम पर आधारित]

(भारत सरकार से रजिस्टर्ड)

राजहंस

R. J. S.

राजस्थान न्यायिक सेवा परीक्षा

[हिन्दी अंग्रेजी निबन्ध]
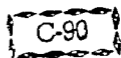
लेखक :
गंगासहाय शर्मा

प्रकाशक
बंसल प्रकाशन, अलवर

शिखर चन्द जैन

प्रकाशक :
बंसल प्रकाशन,
अलवर

मूल्य : 30 रुपये मात्र

वितरक :
राजहंस प्रकाशन,
चौड़ा रास्ता, जयपुर
फोन : 61516 P.P.

PREFACE

It gives me great pleasure to bring out a book on Hindi–English Essays" for language paper meant for Rajasthan Judicial Services Examination to be conducted very shortly by the Rajasthan Public Service Commission

For quite a long time students appearing in R J S. and other competitive examinations were experiencing much difficulty in 'Language Paper' i e Hindi–English Essays The book on the subject was, therefore, genuinely needed for the law students especially when there is no separate teaching in the law colleges of the State and that the standard of English knowledge has gone too low I trust that the book will be quite useful and will meet the requirements of the students In the present book all the essays in Hindi as well as in English are of much significance from examination point–of–view and from the point–of–view of current topics

I hope the book will prove useful for students appearing for ensuing R J S examination and for all other students who are associated with legal education in the State of Rajasthan

—Author

निबन्ध-लेखन

निबन्ध-लेखन की प्रकृति—साधारणतया विधि के विद्यार्थी निबन्ध-लेखन को अप्रशंसनीय तथा दुस्साहसपूर्ण कार्य समझते हैं, लेकिन अंग्रेजी में प्रवीणता प्राप्त करने की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न यह है कि इस कार्य को किस प्रकार सतोषजनक तरीके से किया जाय। एक तरीका यह है कि अच्छे विधि-विषयक निबन्धों को बार-बार पढ़ा जाए। इस दृष्टि से जो लेखक निबन्ध की पुस्तकें लिखते है, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपने विचारों को पाठको के समक्ष सरल एवं अच्छी अंग्रेजी में प्रस्तुत करें ताकि इस जटिल विषय मे उनकी दिलचस्पी पैदा की जा सके।

निबन्ध-लेखन की आधारभूत विशेषताएं—परीक्षा मे विद्यार्थियों से निबन्ध लिखने के पीछे जो विचार है, वह यह है कि विद्यार्थी के पास उस विषय पर किस प्रकार के विचार उपलब्ध है, विषय की सूचनाए कहा तक यथोचित है, और उसका विचार शक्ति एव हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा मे निबन्ध लिखने की योग्यता कैसी है? विधि के आम विद्यार्थी से यह अपेक्षा नही की जा सकती कि निबन्ध-लेखन में उसकी स्वयं की मौलिकता हो, परन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे निबन्ध-लेखन मे भाषा की दृष्टि से अशुद्धियां न करें।

विषय-वस्तु—परीक्षा में कभी-कभी ऐसे भी निबन्ध आते है जिसके बारे मे विद्यार्थियो को बिल्कुल जानकारी नही होती है या उन्हे विषय का साधारण ज्ञान होता है। ऐसे निबन्धा के लिखन मे तथ्यतः (factual) एव तकनिकी (Technical) ज्ञान की आवश्यकता होती है। ऐसे निबन्ध उन्हे नही लिखने चाहिये। प्रश्न-पत्र मे अनेक विषयो की एक सूची होती है जिनमे से एक विषय पर विद्यार्थी को निबन्ध लिखना होता है। अतएव विद्यार्थी को अपनी पसन्द का सबसे अच्छा विषय चयन करना चाहिये। सन्तोषप्रद निबन्ध-लेखन के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी को अपनी पसन्द के विषयों पर खूब अध्ययन करना चाहिये तथा इस पर कई बार चिन्तन किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से विद्यार्थियों को निम्न पृष्ठो मे दिए गए निबन्धो को ध्यानपूर्वक बार-बार पढ़ना चाहिये तथा उन पर चिन्तन-मनन भी उतना ही आवश्यक है। ऐसा करते समय विद्यार्थी को विषय से सम्बन्धित विचार-बिन्दुओं को पृथक से एक पृष्ठ पर लिख लेना चाहिये। यह पद्धति परीक्षा मे निबन्ध-लेखन के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगी।

निबन्ध-लेखन की कला—प्रायः यह देखा गया है कि आम तौर पर विद्यार्थी शुद्ध हिन्दी तथा अंग्रेजी नही लिख पाते है। अगर विद्यार्थी के पास किसी विषय पर पूर्ण ज्ञान उपलब्ध है, परन्तु अगर वह उस शुद्ध अंग्रेजी अथवा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत नही कर सकता तो यह केवल ज्ञान उसके लिए सार्थक सिद्ध नही होगा। अतः सन्तोषजनक निबन्ध-लेखन के लिए भाषा की शुद्धता एव स्पष्टता अत्यन्त आवश्यक है। निबन्ध लिखते समय परीक्षार्थी को ध्यान रखना चाहिए कि वे शुद्धता का पालन करें, वर्ण योजना (Spellings) ठीक भांति लिखें, मुहावरों तथा कहावतों का शुद्ध एव उचित प्रयोग करे एव व्याकरण सम्बन्धी नियमो का पूरा ध्यान

रखें । शब्दो का उचित ज्ञान भी इस दिशा मे अत्यन्त उपयोगी है । आम विद्यार्थी का शब्द-ज्ञान भी बहुत कम है ।

इस अभाव को दूर करने हेतु छात्रो को शब्दज्ञान म दिन-प्रतिदिन वृद्धि करनी चाहिये । अच्छे निबध-लेखन के लिये एक महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी बात यह होगी कि सम्पूर्ण निबध को विभिन्न भागो मे विभाजित कर लेना चाहिए । बहुत से विद्यार्थी समूचे निबध को बिना किसी विभाजन के लगातार एक खडी मे लिखने का अप्रशसनीय प्रयास करते हैं, जो इनके लिए अच्छे अक प्राप्त करने की दिशा मे लाभप्रद नहीं है । इसके विपरीत एक विचार को एक पैराग्राफ म लिखना ज्यादा श्रेष्ठकर है ।

इस पुस्तक मे जिन निबन्धो का चयन एव सकलन किया गया है वे दो दृष्टिकोणो से विद्यार्थियो के लिए अत्यन्त उपयोगी है । प्रथमत इनके अध्ययन से विद्यार्थियो को तथाकथित विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त होगी । दूसरा लाभ यह है कि विद्यार्थियो को शुद्ध एव सरल भाषा म विषय से सम्बन्धित समस्त जानकारी प्राप्त हो सकेगी ।

निबन्ध लेखन के लिए कुछ उपयोगी निर्देशन

(Some Useful Directions for Essay-writing)

1. सर्वप्रथम विषय की प्रकृति और उनके क्षेत्र पर विद्यार्थी का ध्यान जाना चाहिये । उदाहरण के लिए यदि "विषय" 'The Influence of the Cinema on Indian Social Life" है तो हम सिनेमा के केवल मात्र एक पहलू पर ही दृष्टिपात करना है, न कि सिनमा के बारे मे सभी प्रकार की जानकारी प्रस्तुत करनी है । यदि कोई विद्यार्थी सिनेमा उद्योग के इतिहास या भारतीय प्रस्तुत चलचित्र के गुणो के प्रसग पर लिखने का प्रयास करता है तो उसका यह परिश्रम किसी भाति लाभदायक नही होगा । निबन्ध के शीर्षक को बार-बार देखते रहना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वे विषय से सम्बन्धित विचार बिन्दुओ पर ही प्रकाश डाल रहे हैं ।

2 विषय पर बार-बार चिन्तन मनन करना आवश्यक है । इस दौरान जो भी विचार आपके मस्तिष्क मे आते हैं उन्ह अलग से बिन्दुवार (Point-wise) लिख लेना चाहिए । विषय से सम्बन्धित किसी घटना, उदाहरण आदि का वर्णन भी किया जाना आवश्यक है ।

3 कभी भी अव्यवस्थित तरीके से नही लिखना चाहिए । जिस भाति जैसे भी विचार मस्तिष्क मे आयें, उन्ह वैसे ही लिखते जाना प्रशसनीय कार्य नही है । अपने समस्त विचारो को व्यवस्थित प्रणाली से अलग अलग पराग्राफ म लिखना अधिक श्रेष्ठ होगा ।

4. निबन्ध-लेखन के लिए हमेशा छोटे छोटे वाक्य बनाये जाने चाहिये । बड़े वाक्यो के लिखते समय प्राय कर विद्यार्थी व्याकरण का ध्यान खो बैठते हैं । अनुभवी लेखक ही बड़े वाक्यो के माध्यम से अच्छा निबन्ध लिख सकते हैं ।

विषय-सूची

हिन्दी-निबन्ध

लक्ष्मी आर्ट प्रेस, जयपुर

CONTENTS

English-Essays

Current Essays

HINDI ESSAY–Language Paper I 1980

भाग (क)

1. निम्नलिखित में से किसी एक पर हिन्दी में निबन्ध लिखिये। विषय के पक्ष अथवा विपक्ष को तर्क पूर्वक प्रतिपादित कीजिये—(क) प्रान्तीयता, वर्गवाद तथा प्रवृत्तियां देश के स्वस्थ विकास में बाधक हैं। (ख) औद्योगीकरण मानव जाति को यन्त्र में परिणत कर सकता है। (ग) भारत की शिक्षा पद्धति कहां तक जनतन्त्रवादी है। (घ) उपभोक्ताओं की सुरक्षा के उपाय। (ङ) शिक्षा के क्षेत्र में आकाशवाणी तथा दूरदर्शन का महत्व। (च) नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

निम्नलिखित विषयों में से किसी एक पर हिन्दी में एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए—(च) समकालीन कथा-साहित्य में वर्णित कुंठा व असन्तोष के कारण। (छ) जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पीड़न का जीवन दर्शन बन गया है। (ज) स्त्री-जाति के प्रति अत्याचार और अनाचार के निवारण के लिये सुझाव। (झ) भारत में दरिद्रता निवारण संभव है। (ट) श्रमिक वर्ग में व्याप्त असंतोष के कारण व उनके निराकरण के उपाय। (ठ) प्रशासन-कार्य अत्यन्त दुःसाध्य है क्योंकि मनुष्य को आंतरिक एवं बाह्य दोनों संघर्षों में सदैव निरत रहना पड़ता है। 25

भाग (ख)

Note : Answer any two of the essays taking one from each Section.

Write clearly and briefiry. Arrange your ideas and facts in order. Explain your concepts, comparisons and contrasts with clarity Give concrete examples where necessary. You do not have to argue with the titles of the essays. You can take what stand you like provided you argue step by step and let your meaning come through.

Repetition and incoherence will be penalized.

1. Political freedom is possible only where justice is in the seat of authority. 2 Civilization is progressing 3. Conflict and Social Evolution. 4. Equality is a Utopian Ideal. 5. The place of technology in a developing country. 6. The status of Women in India. 7. The problem of minorities. 25

1. Write an analysis of what you think is the perfect job. 2. The abolition of the death sentence will increase the incidence of crime. 3 The challenge of manual work. 4. The basic value of English in India 5 The power and ethics of advertisements 6 Revolutions are not always progressive. 25

हिन्दी निबन्ध

भारतीय संविधान की विशिष्टताएँ

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. एक विशद् राष्ट्रीय दस्तावेज
3. एक लिखित आधुनिक संविधान
4. सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य
5. धर्म निरपेक्ष राज्य
6. समाजवादी अर्थव्यवस्था
7. संसदीय शासन प्रणाली
8. लोक-कल्याणकारी राज्य
9. मूल अधिकार
10. राज्य की नीति के निदेशक तत्व
11. एकल नागरिकता
12. न्यायिक पुनर्विलोकन
13. सांविधानिक संशोधनों की जटिलता और लचीलेपन का अद्भुत सम्मिश्रण
14. मूल कर्तव्य

1. प्रारम्भिक :

प्रत्येक संविधान की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। संविधान के विशिष्ट तत्वों और उसके मूलभूत ढांचे को स्पर्श करने वाली कतिपय ऐसी बातें होती है, जिन्हें हम प्रमुख विशेषताओं से सम्बोधित कर सकते हैं। भारतीय संविधान का मूल स्वरूप लोकतांत्रिक मूल्यों से ओतप्रोत है। यह पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणराज्य की घोषणा करता है। सामान्य परिस्थितियों में यह एक संघात्मक संविधान है, परन्तु किन्हीं विषम परिस्थितियों में इसमें एकात्मक संविधान की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकारों से लेकर राज्य के तीनों प्रमुख अंग—विधान-मण्डल, कार्यपालिका व न्यायपालिका से सम्बन्धित सभी उपबन्धों का लिखित रूप से विस्तृत विवेचन किया गया है, जिनके आधार पर राज्य को अपनी भावी योजनाएँ बनानी है तथा देश को कुशल प्रशासन प्रदान करना है। सांविधानिक संशोधनों की प्रक्रिया सामान्यतया सरल नहीं है, परन्तु अमेरिका की भांति इतनी जटिल भी नहीं है कि देश की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ कोई परिवर्तन भी न किया जा सके। निम्न कतिपय पृष्ठों में भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है।

2. एक विशद् राष्ट्रीय दस्तावेज

भारत का संविधान अपने आप में एक विस्तृत दस्तावेज है। प्रारम्भ में संविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थी और इसे 22 भागों में विभक्त

किया गया था। 44वें सांविधानिक संशोधन अधिनियम, 1978 के पारित होने के पश्चात् संविधान में अब 407 अनुच्छेद, 24 भाग तथा 9 अनुसूचियां विद्यमान हैं।

भारत का संविधान विश्व का सबसे बड़ा लिखित संविधान है, इसका प्रमुख कारण यह है कि संविधान के निर्माताओं ने सभी देशों के संविधानों का गहन अध्ययन एवं चिन्तन कर अपने अनुभवों को इनमें उतारा है। अमेरिकी संविधान के मूलभूत अधिकार, आयरलैण्ड के संविधान के नीति-निदेशक तत्त्व एवं आपात्-उपबन्ध तथा ग्रेट ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का अद्भुत सम्मिश्रण हमारे संविधान में किया गया है।

भारतीय संविधान के अन्य संविधानों की तुलना में सबसे अधिक विशद् होने के अन्य प्रमुख कारणों में से कतिपय कारण इस प्रकार है : संविधान में न केवल मुख्य सिद्धान्तों का ही विवेचन प्रस्तुत किया गया है बल्कि प्रशासनिक विधि का भी विस्तृत विवरण दिया गया है, संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के आपसी सम्बन्धों का समुचित उल्लेख किया गया है, मूलभूत अधिकारों तथा राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के हितों सम्बन्धी विशेष उपबन्धों का समावेश विस्तृत रूप से किया गया है। इनके अतिरिक्त संविधान में नागरिकता, राजकीय भाषा, सांविधानिक संशोधन, लोक-सेवाएँ, आपात्-कालीन स्थिति एवं निर्वाचन आदि के सम्बन्ध में अलग-अलग अध्यायों में अलग से उल्लेख किया गया है। विश्व के अन्य संविधानों में इन समस्त बातों का उल्लेख नहीं किया गया है। अमेरिका के राष्ट्रीय संविधान में प्रान्तीय प्रशासन के बारे में कुछ नहीं कहा गया है क्योंकि वहां प्रत्येक राज्य-घटक का पृथक् से संविधान उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त सभी उपबन्धों को संविधान में विस्तार से प्रस्तुत करने के पीछे जो उद्देश्य रहा है वह यह है कि भारतीय लोकतन्त्र अभी अपनी शैशव अवस्था में है और भविष्य में उसके सर्वांगीण विकास-क्रम में कोई बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिये।

3. एक लिखित आधुनिक संविधान :

विश्व के आधुनिक संविधानों की भांति भारत का संविधान भी एक लिखित संविधान है, केवल मात्र ग्रेट ब्रिटेन का संविधान अलिखित है। भारतीय संविधान बीसवीं सदी के संविधानों की दुनिया का एक युवा सदस्य है। इसका निर्माण वर्तमान सदी के मध्य (1950) में ही किया गया है। परिणामस्वरूप संविधान में विश्व के अन्य संविधानों के मूलभूत सिद्धान्तों तथा प्रक्रियात्मक मान्यताओं की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

संविधान के निर्माताओं ने सतर्कतापूर्वक विश्व के अन्य संविधानों के दोषों को यथासम्भव दूर रखा है। अन्य संविधानों की उन्हीं विशेषताओं का समायोजन

किया गया है जो भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल थी। फलस्वरूप हमारा संविधान अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त रोचक और अद्भुत बन गया है।

4 सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य

भारतीय संविधान को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य कहा गया है। संविधान की प्रस्तावना मे प्रयुक्त इन सभी शब्दो को भली-भाति समझ लेना आवश्यक है। प्रभुत्व सम्पन्न शब्द का आशय यह है कि भारत एक प्रभुसत्ताधारी राज्य है और वह किसी अन्य सत्ता का दास नही है। अपने आन्तरिक प्रबन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे वह पूर्ण स्वतन्त्र है। भारत राज्य की शक्ति अपने अधिकार क्षेत्र मे पूर्ण है। इस वस्तुस्थिति पर कोई मर्यादा अधिरोपित नही की जा सकती है।

उपर्युक्त अवधारणा के अतिरिक्त भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य कहा गया है। लोकतन्त्रात्मक शब्द की व्याख्या अब्राहम लिंकन के शब्दो म "जनता द्वारा जनता के लिए तथा जनता की सरकार" के अर्थ मे कर सकते है, अर्थात् सर्वसाधारण के निर्वाचित प्रतिनिधियो का शासन। "गणराज्य" म राज्य की कार्यपालिका का प्रधान अनिवार्य रूप स सर्वसाधारण द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप म निर्वाचित प्रधान होना चाहिये। भारत की कार्यपालिका का प्रधान इगलैण्ड की भाति वशानुकूल आधार पर कोई सम्राट नही है बल्कि जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप म निर्वाचित राष्ट्रपति है।

संविधान की प्रभुत्व सम्पन्न प्रकृति अथवा स्वरूप पर कभी-कभी कुछ विचारको द्वारा सन्देह प्रकट किया जाता है। यह कहा जाता है कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना हुआ है और इस भाति उसने ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमण्डलीय देशो का प्रमुख अथवा प्रधान मान लिया है। यह स्थिति भारतीय संविधान के सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वरूप के सर्वथा विपरीत है। कुछ भी हो, इस तथ्य म सांविधानिक विरोधाभास की कुछ झलक मिलती है। श्री एम रामास्वामी के शब्दो मे "सम्राट राष्ट्रमण्डल का प्रधान अवश्य है किन्तु यह पद केवल औपचारिक मात्र है और उसका सांविधानिक महत्त्व प्राय बिलकुल नही है।" यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि राष्ट्रमण्डलीय समझौतो का कोई वैधानिक महत्त्व नही है जब तक कि भारतीय संसद् द्वारा उन्हे अनुसमर्थन प्रदान नही कर दिया जाता। राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने से भारत को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनो मे भाग लेगा और विभिन्न विषयो पर उसकी राय मागी जायगी। राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनो मे जो निर्णय किये जायेंगे उनको भारत पर उसकी इच्छा के विरुद्ध लागू नही किये जा सकेंगे।

5 धर्म निरपेक्ष राज्य

भारतीय संविधान की एक अन्य असाधारण विशेषता इसका धर्म-निरपेक्ष स्वरूप है। मध्ययुग की धार्मिक कट्टरता और धर्मान्धता के जहरीले वातावरण से

भारतीय संविधान के निर्माता भली-भांति परिचित थे। किसी एक विशेष धर्म को राज्य-धर्म का स्तर प्रदान कर वे राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न नहीं करना चाहते थे। वे धार्मिक अल्पमत के विश्वास को ठुकराकर हिन्दु-लोकतन्त्र को बेबुनियाद नहीं बनाना चाहते थे। एतदर्थ उन्होंने संविधान में धर्म-निरपेक्षता सम्बन्धी प्रावधानों का समावेश किया।

धर्म-निरपेक्ष राज्य पूरी तरह धार्मिक उदासीनता बनाये रखता है और जाति, रंग, धार्मिक विश्वास आदि के मनुष्य निर्मित बन्धनों को मानने से इन्कार करता है। उसको मनुष्य और मनुष्य के मध्य सम्बन्धों का ध्यान रहता है, न कि मनुष्य और उसके स्रष्टा के बीच के सम्बन्धों का। सारांश में धर्म निरपेक्षता का अर्थ है, राज्य द्वारा किसी भी एक धर्म को किसी प्रकार का राजाश्रय प्राप्त नहीं होगा।

धर्म-निरपेक्षता का अर्थ राज्य के धर्मविरोधी अथवा अधार्मिक होने से नहीं है। संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री हरिविष्णु कामथ के शब्दों में धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो ईश्वर-विहीन (नास्तिक) राज्य है, न अधार्मिक राज्य और *न ही धर्म-विरोधी राज्य।* समद विशेषज्ञों की उक्तियों तथा संवैधानिक उपबन्धों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अधिकार एवं अवसर प्रदान करता है चाहे वह किसी भी धर्म विशेष से सम्बन्ध रखता हो। राज्य धर्म या धार्मिक विश्वास के आधार पर किसी प्रकार का आपसी भेद-भाव नहीं बरतता।

6. समाजवादी अर्थ-व्यवस्था :

आदर्श संविधान वही है जो जनतन्त्रीय प्रणाली से शान्तिपूर्ण आर्थिक, सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करे। आखिर हमारा स्वाधीनता संघर्ष भी तो आर्थिक सामाजिक परिवर्तन का संकल्प था। यह प्रश्न सर्वाधीन है कि जिन सिद्धान्तों को आधार मानकर भारतीय संविधान की रचना हुई उनसे अनुरूप समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव है। प्रस्तावना, मूलभूत अधिकार एवं राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व सम्बन्धी परिच्छेद भारतीय संविधान में समाजवादी झलक प्रस्तुत करते हैं। "समाजवाद" शब्द की संविधान में कोई विशेष परिभाषा नहीं दी गई है, इस शब्द की परिभाषा देना दुष्कर कार्य है। समाजवादी व्यवस्था के अधीन उत्पादन के मुख्य साधनों एवं उनकी स्वच्छ वितरण प्रणाली पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है।

यद्यपि "समाजवादी" शब्द का संविधान की प्रस्तावना में समावेश 42 वें ***सांविधानिक संशोधन अधिनियम, 1976*** द्वारा किया गया था, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके पूर्व भी भारतीय संविधान को समाजवादी संविधान के नाम से जाना जाता था। 42 वें संशोधन अधिनियम के पारित होने पर यह स्थिति और

स्पष्ट हो गई है और अब भविष्य में विभिन्न सांविधानिक उपबन्धों की व्याख्या करते समय भारतीय न्यायालयों को इससे दिशा बोध होता रहेगा।

7. संसदीय शासन प्रणाली

संविधान में केन्द्र और प्रत्येक राज्य स्तर पर संसदीय शासन प्रणाली की व्यवस्था के सम्बन्ध में समुचित प्रावधान किये गये है। केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासन हेतु मुख्य पदाधिकारी मन्त्रिगण होते है। *केन्द्र में मन्त्रिमण्डल का प्रधान*, वहां का प्रधान मन्त्री होता है। वे विधान मण्डल के प्रसाद पर्यन्त (pleasure of the legislature) तक ही अपने पदों पर बने रहते है। राष्ट्रपति और राज्य-पाल केन्द्र तथा राज्यों के सांविधानिक प्रमुख होते हैं। वे अपने अपने उत्तरदायी मन्त्रि-परिषदों की मन्त्रणा पर कार्य करते है।

संविधान के निर्माताओं ने सोच-विचार कर संसदीय शासन प्रणाली को चुना है। भारत के लोग सांविधानिक शासन प्रणाली से भली-भांति परिचित थे। ऐसी शासन-व्यवस्था की कार्यप्रणाली सरल होती है और इसलिये भारत के लिये यही प्रणाली अधिक उपयुक्त समझी गई। इस सम्बन्ध में डॉ अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा था—"संसदीय शासन प्रणाली में शासन के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन समय-समय पर होता रहता है।

8 कल्याणकारी राज्य :

भारत के संविधान में कल्याणकारी राज्य स्थापित करने सम्बन्धी ऐसे उपबन्ध प्रस्तुत किये गये है जिससे सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो सके। संविधान की प्रस्तावना में भी सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक न्याय के उच्चतम तथा श्रेष्ठ आदर्श अन्तर्निहित किये गये हैं। विचार अभिव्यक्ति, *विश्वास, आस्था* और उपासना का स्वातन्त्र्य, पद स्थिति तथा सुयोग की समानता, व्यक्ति के गौरव तथा राष्ट्र की एकता का आश्वासन देने वाला बन्धुत्व;—ये उच्च आदर्श कल्याणकारी राज्य के आदर्श है। संविधान में मनुष्य द्वारा निर्मित कृत्रिम असमानताओं को हटाने का अभियान आरम्भ किया गया है। इस उद्देश्य हेतु समाज के पिछड़े वर्गों एवं जातियों के उत्थान की व्यवस्था की गई है।

श्री कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी के शब्दों में "यह संविधान केवल भौतिक उन्नति और लोकतन्त्रीय व्यवस्था को बनाये रखने का साधन ही नहीं है, अपितु इस बात को मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व पवित्र है।"

उपर्युक्त तथ्यों तथा सांविधानिक उपबन्धों के आधार पर यह बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है कि हमारा संविधान एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने हेतु दिशा-निर्देश देता है। संविधान में प्रदत्त नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का भी यही उद्देश्य है कि व्यक्ति का कल्याण हो। उसके साथ ही राज्यों को ऐसी शक्तियां प्रदान की गई हैं जिससे व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगे और यदि नागरिकों के अधिकार समाज के लिए अहितकर सिद्ध हों, तो राज्य व्यक्ति के अधिकारों के प्रयोग पर आवश्यक अंकुश लगा सके।

संविधान में कार्य की मानवोचित दशाओं, मातृत्व-कल्याण, उद्योगों में श्रमिकों के शोषण पर रोक, निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करके समाज में व्याप्त असमानताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया गया है। समान कार्य के लिये समान वेतन, भौतिक साधनों के स्वामित्व का इस प्रकार वितरण कि वह सबके लिए हितकारी हो, सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों को इस प्रकार संग्रहित न होने देना जिससे सर्व साधारण के हित को हानि पहुँचती हो, ये सब आर्थिक न्याय के एक नये युग के प्रवर्तक है।

9. मूल अधिकार :

भारतीय संविधान के भाग 3 में नागरिकों के मूल अधिकारों की स्पष्ट घोषणा की गई है जो भारतीय संविधान की एक अद्वितीय विशेषता है। संविधान द्वारा नागरिकों को 6 महत्वपूर्ण अधिकार समता व समानता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार एवं सांविधानिक उपचारों का अधिकार, आदि प्रदान किये गये है जो व्यक्ति के नैतिक सामाजिक एवं बौद्धिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मूलभूत अधिकारों के अध्याय से निकाल दिया गया है। सम्पत्ति के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 300 क में समाविष्ट कर इसे एक सामान्य विधि के अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। संविधान के निर्माताओं ने इन अधिकारों का उदारतापूर्वक गहन अध्ययन एवं चिन्तन किया है, उनकी दूरदर्शिता का ही यह प्रतिफल है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सामाजिक नियन्त्रण के बीच सामन्जस्यता स्थापित करने का सफल प्रयास किया गया है। इसी उद्देश्य से आवश्यकता पड़ने पर इन अधिकारों पर लोकहित में युक्तियुक्त प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं।

मूल अधिकार राज्य की निरंकुशता पर समुचित नियन्त्रण प्रस्तुत करते हैं। ये अधिकार राज्य की कार्यपालिका एवं विधायिनी शक्ति पर एक मात्र प्रतिबन्ध है। अनुच्छेद 13 राज्य को ऐसे कानूनों की संरचना के विरुद्ध निर्देश देता है जो मूल अधिकारों का उल्लंघन अथवा अतिक्रमण करते हैं। यदि राज्य ऐसी विधि की संरचना करता है तो वे मूलतः शून्य माने जावेंगे और न्यायालयों द्वारा उन्हें असंवैधानिक घोषित किया जा सकेगा।

मूल अधिकार केवल मात्र औपचारिक घोषणा मात्र न बने रहें, इस उद्देश्य से संविधान में उनकी सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए सांविधानिक उपचारों का प्रावधान किया गया है। उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को इस उद्देश्य हेतु बन्दी प्रत्यक्षीकरण, उत्प्रेषण, प्रतिषेध, परमादेश व अधिकार पृच्छा आदि लेख जारी करने हेतु अधिकृत किया गया है। डॉ. अम्बेदकर ने इन्हें संविधान की आत्मा कहा है।

10. राज्य-नीति के निदेशक तत्त्व

संविधान के भाग-4 में राज्य नीति के निदेशक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। इन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना राज्य का नैतिक एवं पवित्र कर्त्तव्य माना गया है। *नीति निदेशक तत्त्वों को हमने आयरलैण्ड के सन् 1937 के* संविधान से लिया है। नीति निदेशक तत्त्व देश के शासन में मूल है और भविष्य में विधि की संरचना करते समय या लोक-नीति का निर्माण करते समय इन तत्त्वों को ध्यान में रखना राज्य का कर्त्तव्य होगा। संविधान के अनुच्छेद 37 में इस संदर्भ में स्पष्ट कहा गया है कि इस भाग में उल्लिखित उपबन्धों को न्यायालयों द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी परन्तु फिर भी देश के प्रशासन में वे मूलभूत है। संविधान के भाग 4 में उल्लिखित निदेशक तत्त्वों में उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का चित्रण किया गया है जो संविधान के निर्माता भारत में स्थापित करना चाहते थे। संविधान की प्रस्तावना में समाविष्ट आदर्शों—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्पष्ट व्याख्या नीति निदेशक तत्त्वों में की गई है। इससे संसदीय शासन प्रणाली का नैतिक मूल्यांकन होता है। इस व्यवस्था में शासन स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश नहीं हो सकता।

11. एकल नागरिकता :

संघीय व्यवस्था में आमतौर से दोहरी नागरिकता के प्रावधान शामिल होते है—(1) समूचे संघ की नागरिकता, और (2) इस संघ के घटक प्रत्येक राज्य की नागरिकता। संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विटजरलैण्ड के संविधानों में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था दी हुई है।

भारत के संविधान ने अपने नागरिकों को एकल नागरिकता प्रदान की है, अर्थात् भारत की नागरिकता। हमारे देश में संयुक्त राज्य अमरिका की भांति दोहरी नागरिकता नहीं है। जैसे एक तो समस्त देश की नागरिकता और उस राज्य की पृथक से नागरिकता जिसमें वह निवास करता हो। एतदर्थ सभी नागरिकों के अधिकार, कर्त्तव्य एवं दायित्व समान रूप से आश्वित किये गये है। संविधान के अनुच्छेद 15 (1) में यह उपबन्ध किये गये है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, जन्म-स्थान या उनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।

12. न्यायिक पुनर्विलोकन :

संघात्मक शासन व्यवस्था में स्वतन्त्र न्यायपालिका का सर्वाधिक महत्त्व होता है। मान्टेस्क्यू ने राज्य की अनियन्त्रित शक्ति पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से ही शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में राज्य शक्ति का पृथक्कीकरण आवश्यक है। राज्य के इन तीनों अंगों के लिए संविधान में ये उपबन्ध किये गये हैं कि वे एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करें।

शासन के विभिन्न अंगों पर संविधान में निश्चित मर्यादाएं और अंकुश लगा दिये हैं और यदि शासन की कोई इकाई उक्त मर्यादाओं का उल्लंघन करती है तो सम्बन्धित अधिनियम या विधि अवैध मानी जायगी। उदाहरण स्वरूप संविधान का अनुच्छेद 13 यह निर्देश देता है कि "राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों को छीनती है या कम करती है और इस भाग के उल्लंघन स्वरूप निर्मित प्रत्येक विधि उल्लंघन की सीमा तक शून्य होगी।

उच्चतम न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के सन्दर्भ में अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं का परीक्षण करते हुए कहा है—"मौलिक अधिकारों को नियन्त्रित करने वाला विधान तभी वैध माना जायगा यदि उसके साथ ही इन अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी युक्तियुक्त एवं पर्याप्त अंकुश उपबन्धित किये गये हैं और न्याय-युक्तता और यथार्थता का निर्णय केवल मात्र न्यायालय ही करेंगे।"

13. सांविधानिक संशोधनों की जटिलता और लचीलेपन का अद्भुत सम्मिश्रण :

भारतीय संविधान में सांविधानिक संशोधनों के सम्बन्ध में जटिलता और लचीलेपन का अद्भुत सम्मिश्रण किया गया है। प्रो. व्हीयर के कथनानुसार भारतीय संविधान में कठोरता और अत्यन्त लचीलेपन में एक अच्छा सन्तुलन स्थापित किया गया है। डॉ. जैनिंग भारतीय संविधान को अनम्य (जटिल) प्रकार का संविधान मानते हैं। सांविधानिक संशोधनों के सम्बन्ध में पण्डित नेहरू ने एक स्थान पर कहा है "इस संविधान को इतना ठोस और स्थायी बनाना चाहते है जितना कि हम बना सकते हैं, परन्तु संविधान स्थायी नहीं होते। इनमें कुछ लचीलापन अवश्य होना चाहिये। यदि आप किसी वस्तु को कठोर और स्थायी बनायें तो आप राष्ट्र की उन्नति का रोक देते हैं। जब संसार उपद्रव ग्रस्त हो और जब हम अत्यन्त गतिशील परिवर्तनकाल में से गुजर रहे हों उस समय जो काम हम आज कर रहे हैं, कल भी उसी रूप में ठीक होगा ऐसा समझना ठीक नहीं।"

किसी देश के सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय जीवन में संविधान केवल साधन मात्र है, संविधान स्वयं अपने में कोई उद्देश्य नहीं होते। जीवन अपने आप में गतिशील है। राष्ट्रीय जीवन को गतिशील बनाने के उद्देश्य से संविधान में समय-समय पर परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। भारतीय संविधान भी इस दिशा में एक परिवर्तनशील संविधान है। हमारे संविधान में केवल कुछ ही उपबन्ध ऐसे हैं जिनमें संशोधन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया के अनुसरण की आवश्यकता है। शेष उपबन्धों के लिए संसद के साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है।

इसके विपरीत भारत में सांविधानिक संशोधनों की प्रक्रिया इतनी सरल भी नहीं है जितनी सरल समझी जाती है। हम इस संविधान को लचीला संविधान

रहते हैं जिससे उपबन्धों को औपचारिक संशोधन किये बिना ही परिस्थितियों के अनुसार बदला जा सकता है या उसमें तोड़-मरोड़ किये जा सकते हैं। ऐसी व्यवस्था में सांविधानिक संशोधनों तथा सामान्य विधि के संशोधन में कोई अन्तर नहीं रह जाता। भारतीय संविधान की स्थिति ऐसी नहीं है। संघीय संविधानों की गणना में भारतीय संविधान ही कम अनम्य (जटिल) कहा जाना चाहिये। यह चरम अनम्यता और चरम नम्यता के बीच अद्भुत सन्तुलन बनाये हुये है।

भारतीय संविधान के लागू होने की तिथि से अब तक अर्थात् पिछले 34 वर्षों में कुल 47 सांविधानिक संशोधन हो चुके हैं। यह इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है कि भारत का संविधान एक परिवर्तनशील संविधान है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका के 200 वर्षों के सांविधानिक इतिहास में 20 संशोधन मात्र ही हुये हैं। इस दृष्टि से डॉ जैनिंग्स का यह कथन कि भारतीय संविधान आवश्यकता से अधिक अनम्य है—यथार्थता से कोसों दूर है।

14. वयस्क मताधिकार

हमारे संविधान में जो सबसे अधिक साहसिक कदम उठाया गया है, वह भारत के करोड़ों लोगों को सार्वजनीन वयस्क मताधिकार प्रदान करना था स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीय जन-जीवन में पृथक निर्वाचन प्रणाली द्वारा जो फूट डाली गई थी एवं जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ था उसे अन्ततोगत्वा हमारे वर्तमान संविधान द्वारा समाप्त कर दिया गया। सम्पत्ति विषयक अर्हताओं के स्थान पर, जिसके कारण अंग्रेजी शासन के दौरान केवल 15% लोग मताधिकार का प्रयोग कर पाते थे, अब सार्वजनीन मताधिकार प्रारम्भ कर दिया गया है। 21 वर्ष की आयु से अधिक उम्र के भारतीय नागरिकों को मत देने का अधिकार दिया गया है।

निर्धन को कानूनी सहायता

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
3. सांविधानिक दृष्टिकोण
4. कानूनी सहायता के आर्थिक, सामाजिक व प्रक्रिया सम्बन्धी पहलू
5. राज्य सरकारों की भूमिका
6. लोक न्यायालयों की स्थापना
7. छात्र विधिक सहायता प्रकोष्ठ
8. उपसंहार

1. प्रारम्भिक .

न्यायिक व्यवस्था में सामाजिक न्याय की प्रस्तावना

पिछले कुछ वर्षों से निर्धन को एक अधिकार के रूप में मुफ्त कानूनी सहायता और सलाह उपलब्ध कराने की समस्या पर विचार विमर्श किया जाता रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित विभिन्न गोष्ठियों एवं सम्मेलनों के माध्यम से इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि भारत की न्याय प्रणाली इस देश के कमजोर वर्ग की जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं है और इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में कानूनी सहायता के ऐतिहासिक, सांविधानिक, आर्थिक और सामाजिक तथा प्रक्रिया सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से चर्चा की गई है ताकि विषय की गम्भीरता को हृदय के गहनातिगहन पक्ष से स्वीकार किया जा सके तथा इस विषय को राष्ट्रीय सेवाओं के अनुरूप स्थान प्रदान किया जा सके।

2 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

असहाय को कानूनी सहायता के सन्दर्भ में सर्व प्रथम सिविल प्रक्रिया संहिता (1980) में मूलरूप से निर्धनों के लिए मुकदमा लड़ने की व्यवस्था रखी गई थी, लेकिन निर्धनता की जांच का तरीका इतना कठिन था कि उससे बहुत सीमित राहत मिलने की सम्भावना थी। सिविल प्रक्रिया संहिता (1980) के अन्तर्गत एक निर्धन व्यक्ति को न्यायालय की फीस में रियायत मिल सकती थी, लेकिन अन्य सम्बन्धित खर्चों में रियायत सम्बन्धी कोई प्रावधान नहीं था। दण्ड प्रक्रिया संहिता (1980) में यह प्रावधान रखा गया था कि यदि किसी अभियुक्त के विरुद्ध फौज-

दारी अदालत मे कोई अभियोजन चल रहा है तो उसे अपने बचाव के लिए अपना एक वकील रखने का अधिकार है, लेकिन इस सन्दर्भ मे निर्धन अभियुक्त को राज्य सरकार द्वारा अधिकार स्वरूप मुफ्त कानूनी सहायता प्रदान करने की बात पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया।

सर्व प्रथम कानूनी सहायता सम्बन्धी सरकारी रपट तत्कालीन न्यायाधीश श्री एन. एच. भगवती ने 31 अक्टूबर, 1949 को बम्बई की प्रादेशिक सरकार को प्रस्तुत की थी। दुर्भाग्यवश रपट की तरफ प्रादेशिक सरकार की ओर से बहुत कम ध्यान दिया गया। बम्बई की प्रादेशिक सरकार ने जिस भगवती कमेटी की स्थापना की थी उसने रश क्लिफ कमेटी की रपट से प्रेरणा ली थी और बहुत प्रभावशाली ढग से कानूनी सहायता के विस्तार और राज्य सरकार द्वारा सहायता देने की बात के औचित्य को सामने रखा था। समिति ने बम्बई राज्य मे कानूनी विधि सहायता के विधि सम्मत प्रचलित प्रावधानो का सर्वेक्षण किया था और सम्भावनाओ का स्वरूप सामने रखा था। ऐसे लोगो और वर्ग को रेखांकित किया गया था, जिन्हे यह मदद दी जाने वाली थी। समिति ने यह सुझाव भी दिया था कि एक कानूनी सहायता कोष की स्थापना की जानी चाहिए जिसमे राज्य सरकार के अनुदान के साथ नागरिको द्वारा चन्दा और दान, व्यापारिक संगठनो, दातव्य संस्थानो आदि का अनुदान हो। इसके अतिरिक्त रपट मे कानूनी सहायता सम्बन्धी सभी सम्भावित समस्याओ तथा इनके निवारण स्वरूप सुझावो पर विस्तार से प्रकाश डाला गया था। इन सिफारिशो को 1960 मे केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रस्तुत योजना मे आधार स्वरूप स्वीकार किया गया।

15 अगस्त 1947 को पुनीत वेला मे हम ब्रिटिश राजनैतिक परतन्त्रता से मुक्ति प्राप्त हुई और देश को लोकतन्त्रीय पद्धति से नव निर्माण करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। एतदर्थ 26 नवम्बर 1950 को कान्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली के अथक प्रयत्नो द्वारा बनाए गए सविधान को भारत की जनता ने स्वीकार किया। सविधान की प्रस्तावना मे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय उपलब्ध कराने की घोषणा की गई थी, परन्तु इन सब के बावजूद कानूनी सहायता योजना को मूर्त रूप देने की दिशा मे कोई विशेष प्रयास नही किया गया।

1958 मे प्रथम भारतीय विधि आयोग के अध्यक्ष श्री एम. सी. सीतलवाड ने अपनी न्यायिक प्रशासन मे सुधार सम्बन्धी रपट मे कानूनी सहायता के प्रश्न को एक मूलभूत प्रकृति का प्रश्न माना है। रपट मे कानूनी सहायता सम्बधी सुझावो से केन्द्रीय सरकार को अपनी योजना बनाने मे काफी प्रेरणा मिली। 1960 मे भारत सरकार ने राज्य सरकारो को कानूनी सहायता सम्बधी जो मसविदा भेजा था वह वित्तीय स्रोत, प्रशासन का स्वरूप, साधनो की जाच, तथा किन वर्ग विशेष को कानूनी सहायता दी जानी आवश्यक है, आदि विषयो मे

सम्बन्धित था। तृतीय अखिल भारतीय विधि सम्मेलन में भी कानूनी सहायता पर विचार विमर्श किया गया। सम्मेलन में आम मत से यह जिज्ञासा प्रकट की गई कि राज्य सरकार को बार की मदद से निर्धनों को कानूनी सहायता का एक व्यापक कार्यक्रम बनाना चाहिये। 1962 में विधि राज्य मंत्रियों के एक सम्मेलन में राज्य सरकारों ने कानूनी सहायता के वित्तीय बोझ को वहन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। 1962 के पश्चात् काफी समय तक योजना को गतिशील बनाने के सम्बन्ध में कोई विशेष कदम नहीं उठाये गए। यदा कदा संसद् में इस विषय में पूछताछ की गई। ऐतिहासिक दृष्टि से 1960 की केन्द्रीय सरकार की योजना काफी महत्वपूर्ण थी परन्तु इसे मूर्तरूप प्राप्त नहीं हो सका।

1970 से पहले आम तौर पर यह माना जाता था कि गरीबों को कानूनी सहायता प्रदान करने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है क्योंकि न्याय प्रशासन का विषय राज्य सूची में है, लेकिन 19 मार्च, 1970 को कानूनी सहायता सम्बन्धी राष्ट्रीय सम्मेलन में अनेक अधिवक्ताओं, विधि विशारदों ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध किया और कानूनी सहायता के मामले में केन्द्रीय विधायिका और कार्यपालिका के सक्षम होने की बात अन्ततः स्वीकार की गई। सम्मेलन में यह भी महसूस किया गया कि कानूनी सहायता एक ऐसे स्वायत्त विधि-सम्मत संगठन के माध्यम से दी जानी चाहिये जो केन्द्रीय कानून के अन्तर्गत गठित हो। 1970 के इस राष्ट्रीय सम्मेलन के माध्यम से कानूनी सहायता का एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में इसका स्वरूप एक बौद्धिक आन्दोलन का था जो कानून के पेशे तथा प्रशासन और विधायिका से सम्बन्धित व्यक्तियों तक सीमित था। तदुपरान्त आन्दोलन ने काफी जोर पकड़ा तथा काफी संख्या में इसका समर्थन करने वाले लोग सामने आये।

27 अक्टूबर, 1972 को भारत सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की जिसकी जिम्मेदारी कानूनी सहायता सम्बन्धी एक योजना बनाने की थी। 1976 के मई माह में समिति ने अपनी रपट प्रस्तुत की। इस रपट में न केवल तत्सम्बन्धी योजना ही प्रस्तुत की अपितु कानूनी सहायता के इस आन्दोलन में इस पेशे से सम्बन्धित सभी लोगों को हिस्सा लेने का अवसर प्रदान किया गया।

जून, 1975 में देश में आपातकालीन स्थिति घोषित करने के पश्चात प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा घोषित 20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत समाज के कमजोर वर्ग को कानूनी सहायता उपलब्ध कराने की बात पर काफी जोर दिया गया। तत्पश्चात् 42 वें संविधान संशोधन द्वारा कानूनी सहायता के प्रश्न को संवैधानिक स्तर प्रदान किया गया।

3. संवैधानिक दृष्टिकोण .

हमारे संविधान की प्रस्तावना में भारत के भावी समाज तथा हमारे दृढ़

सकल्प सुनिश्चित किये गये है । इस सन्दर्भ मे सविधान के निर्माताओ ने नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध कराने की घोषणा की गई है ।

सविधान की प्रस्तावना मे रेखाकित किये गये आदर्शो को क्रियान्वित करने के लिये मुख्य रूप से "मौलिक अधिकारो" तथा "राज्य के नीति निदेशक तत्वो" मे स्थान स्थान पर विभिन्न प्रावधानो का समावेश किया गया है जो नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय उपलब्ध कराने से सीधा सम्बन्ध रखते है ।

उदाहरण स्वरूप सविधान मे शोषण से मुक्त एव न्यायपूर्ण समाज के निर्माण की राष्ट्रीय महत्वाकाक्षी थी जिसे "राज्य के नीति निदेशक सिद्धातो को देश के प्रशासन के सन्दर्भ मे मूलभूत घोषित किया गया" लेकिन इन सबके बावजूद असमता और असमानता का विकास हुआ । विषम आर्थिक कठिनाइयों के फलस्वरूप आम नागरिक के लिये न्याय पाना दुर्लभ हो गया । यह आम कहावत बन गई कि न्याय के दरवाजे केवल मात्र सुनहरी चाबियो द्वारा खोले जा सकते है । कुछ क्षेत्रो से यह आवाज उठी कि या तो कानून को क्रान्तिकारी बनाया जाये अथवा समाज कानून के प्रति क्रान्ति करने मे अग्रसर होगा । अतएव इन बदलती हुई परिस्थितियो मे यह आवश्यक समझा गया कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध कराने के लिय कानूनी सहायता के प्रसग को सविधान मे स्पष्ट एव प्रभावशाली ढग से निर्देशित किया जाना चाहिए । एतदर्थ सविधान के 42 वे सशोधन अधिनियम मे कानूनी सहायता को 'राज्य के नीति निदेशक तत्वो" मे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया और अनुच्छेद 39-ए म समान न्याय और मुफ्त कानूनी सहायता को प्रस्तुत किया गया ।

सविधान मे 42 वा सशोधन हो चुकने के पश्चात् एव विशेष तौर से नीति निदेशक तत्त्वो के अध्याय मे अनुच्छेद 39-ए के समावेश के पश्चात् समान न्याय और मुफ्त कानूनी सहायता का सिद्धात भारतीय सविधान का एक महत्वपूर्ण अग बन गया है । यह स्थिति काफी सन्तोषजनक है लेकिन नीति निदेशक सिद्धान्त अपने आप मे लागू किये जाने योग्य नही होते । उसके लिये ससद अथवा राज्यो की विधायिकाओ द्वारा एक अधिनियम पारित करना होता है । कानून के क्रियान्वयन के लिए एक सगठन और वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती है । भूतपूर्व केन्द्रीय विधि मत्री श्री हरिराम चन्द्र गोखल इस सन्दर्भ मे देश की विधि व्यवस्था विधि विषयक शिक्षा और अदालती काम काज मे यथा सम्भव परिवर्तन करने की दिशा मे कई मर्तबा सकेत दे चुके हैं । सौभाग्यवश यह सभी बाते शनै शनै मूर्तरूप धारण कर रही है ।

4 कानूनी सहायता के आर्थिक, सामाजिक व प्रक्रिया सम्बन्धी पहलू

मनुष्य वस्तुत एक सामाजिक प्राणी है । समाज मे रहते हुए अपने तथा

अपने परिवार के सदस्यों को एक सुन्दर व व्यवस्थित जीवन स्तर प्रदान करने की उसकी अभिलाषा होती है, परन्तु गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी प्राकृतिक यातनाओं, वृद्धावस्था तथा अन्य आर्थिक एवं सामाजिक जटिलताओं के कारण उसकी आशाएं सीमित प्रतीत होती हैं और जीवन संघर्ष में कठिन परिश्रम करने के बावजूद उसे यातनायें प्राप्त होती हैं। जीवन के इस संघर्ष में कुछ लोग अपने चातुर्य एवं समाज का शोषण करने की हीन प्रवृत्ति से आर्थिक एवं सामाजिक रूप से आगे बढ़ जाते हैं। सामाजिक दायित्व से पदच्युत ऐसे लोग हर कदम पर शोषण के स्रोत बने हुये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम आयोग के फिलाडेलफिया घोषणा पत्र (1944) में कहा गया है कि गरीबी जहां कहीं भी विद्यमान रहेगी वह समृद्धता के हर कदम पर बाधक सिद्ध होगी। इसलिए गरीबी को समूल नष्ट करना मानव का सर्वोपरि ध्येय होना चाहिए। हमारे संविधान की प्रस्तावना तथा नीति निदेशक तत्वों में समाहित सामाजिक और आर्थिक न्याय की रूप-रेखा भी जीवन के इसी तथ्य पर आधारित है। इस परिप्रेक्ष्य में निर्धनों को कानूनी सहायता प्रदान कर सकते हैं। कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी वर्गों वकील, विधि प्राध्यापक, विधि अध्ययन में व्यस्त विद्यार्थी तथा न्यायिक अधिकारियों सभी पर समान रूप से यह सामाजिक दायित्व है।

कानूनी सहायता के नियोजित संचालन के लिये आर्थिक साधनों की उपलब्धि एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। इस सन्दर्भ में "राष्ट्रीय कानूनी सहायता कोष" का सुझाव अत्यन्त कारगर सिद्ध हो सकता है। बम्बई की प्रादेशिक सरकार ने जिस भगवती समिति की स्थापना की थी उसकी सिफारिश अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है—"राष्ट्रीय कानूनी सहायता कोष" के निर्माण में राज्य सरकारों का आर्थिक योग, केन्द्र सरकार द्वारा अनुदान, व्यक्तियों द्वारा चन्दा और दान, व्यापारिक संगठनों, सहायकों, दातव्य संस्थानों, न्यासों आदि का अनुदान सम्मिलित हो। राष्ट्रीय कानूनी सहायता कोष के प्रशासन तथा नियंत्रण के लिए एक राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है। यह संगठन कानूनी सहायता से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर राष्ट्रीय स्तर की विचार गोष्ठियों एवं सम्मेलनों का आयोजन कर सकता है तथा जनमत के आधार पर प्रक्रियाओं सम्बन्धी उलझनें तय कर सकता है। राज्य स्तर पर भी इस प्रकार के संगठनों की आवश्यकता है। इस विचार से भी सभी सहमत हैं कि कानूनी सहायता के सभी अधिकरणों को स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए तथा उन्हें एक विधान के अन्तर्गत काम करना चाहिए। "राष्ट्रीय कानूनी सहायता कोष" से कानूनी सहायता के लिए राज्य की आवश्यकता के अनुसार अर्थ वितरण किया जाना चाहिए।

5. राज्य सरकारों की भूमिका :

राजस्थान सरकार ने कुछ वर्ष पहले विधिक सहायता के लिये कुछ

नियम प्रसारित किये थे। इन नियमों के अनुसार कानूनी सहायता, न्यायालय शुल्क, आदेशिका शुल्क, प्रतिलिपि व्यय तथा साक्षी व्यय आदि के रूप में प्रदान की जायेगी तथा वकील की निःशुल्क सेवा उपलब्ध होगी। 300 रुपए मासिक आय से कम वाले व्यक्ति उक्त नियमों के अन्तर्गत लाभ प्राप्त कर सकेंगे। यह सहायता दीवानी तथा फौजदारी दोनों मामलों में प्राप्त हो सकेगी किन्तु मान हानि, विवाह का वचन भंग तथा चुनाव सम्बन्धी कार्यवाहियों में कानूनी सहायता प्राप्त नहीं हो सकेगी। प्रदेश में जिला स्तर पर तथा उप जिला स्तर पर कानूनी सहायता समितियों का प्रति वर्ष गठन होगा। राजस्थान सरकार कानूनी सहायता के संचालन के लिये धन राशि भी उपलब्ध कराती रहती है।

मध्य प्रदेश सरकार ने भी हाल ही में समाज के कमजोर वर्ग को कानूनी सहायता उपलब्ध कराने के लिये मध्य प्रदेश के कमजोर वर्गों के लिये विधिक सहायता तथा विधिक सलाह अधिनियम 1976 पारित किया है। इस अधिनियम में राज्य स्तर पर एक बोर्ड तथा जिला स्तर पर एवं तहसील स्तर पर विभिन्न समितियों के बनाने का प्रावधान है। अधिनियम में खेती करने वाले भूमिहीन मजदूर, कारीगर अथवा ऐसे परिवार व सदस्यों को जिनकी मासिक आय 200 रुपये या 200 रुपये से कम हो, को कानूनी सहायता उपलब्ध कराने की बात कही गई है। अधिनियम में कोर्ट फीस, सम्मन जारी करने की फीस, गवाहों पर किया गया खर्च, वकील नियुक्त करने की व्यवस्था, निर्णयों की सत्य प्रतिलिपि उपलब्ध कराने की व्यवस्था आदि का प्रावधान है।

निर्धन को कानूनी सहायता एवं सलाह उपलब्ध कराने की दिशा में मध्य प्रदेश विधायिका द्वारा पारित उक्त अधिनियम तथा राजस्थान सरकार द्वारा प्रसारित नियम व उप नियम काफी सार्थक सिद्ध हो सकते हैं।

वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों की एक समिति कानूनी सहायता, संगठन के प्रारूप और उसके प्रक्रिया सम्बन्धी नियम, उपनियम बनाने में, लगी हुई है। इसके साथ-साथ कानूनी सहायता से सम्बन्धित दो वैधानिक संशोधन भी प्रस्तुत किये गये हैं जिनके अन्तर्गत दंड और सिविल प्रक्रिया संहिताओं की तत्सम्बन्धी व्यवस्थाओं को नये रूप में रखा गया है एतदर्थ फौजदारी और दीवानी न्यायालयों में एक निर्धन व्यक्ति के पहुँच के क्षेत्र को काफी विस्तृत कर दिया गया है।

सस्ते एवं सुलभ न्याय के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि कानूनी सहायता के इस प्रोग्राम को जन-जन तक पहुँचाया जाय जिसका उद्देश्य जन साधारण को न्याय सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध कराना है। राजस्थान में हाल ही में विधि सेवा प्रकाशन नामक संस्थान स्थापित किया गया है। यह संस्थान शीघ्र ही "विधि सेवा" नामक साप्ताहिक समाचार-पत्र प्रकाशन करने जा रहा है। कानूनी

सहायता के लिये जनमत एवं चेतना जाग्रत करने के लिये ऐसे प्रकाशन काफी उपयोगी सिद्ध होंगे।

6. लोक न्यायालयों की स्थापना :

समाज के कमजोर वर्ग को सस्ता एवं सुलभ न्याय उपलब्ध कराने की दिशा में लोक न्यायालयों की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण एवं दिलचस्प प्रश्न है। कोटा जिले के गोपालपुरा ग्राम में लोक न्यायालय के द्वारा जिस प्रकार न्याय प्रसारण किया गया वह अपने आप में एक अनूठा आदर्श है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री पी. एन. भगवती, राजस्थान उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एवं राजस्थान विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलाधिपति श्री वेदपाल त्यागी तथा राजस्थान उच्च न्यायालय विधिक सहायता एवं परामर्शदात्री समिति के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम दास कुदाल ने गोपालपुरा ग्राम में विधिक सहायता सम्बन्धी अनेक सफल प्रयोग किये हैं जिनके अन्तर्गत जनता के अनेक विवादों पर फैसले दिये गये एवं उनको हृदय से स्वीकार किया गया। राजस्थान उच्च न्यायालय ने प्रदेश में लोक न्यायालयों की स्थापना के सन्दर्भ में एक ड्राफ्ट बिल राज्य सरकार के विचारार्थ एवं राज्य विधायिका द्वारा एक अधिनियम के रूप में पारित किये जाने के लिये प्रस्तुत किया है। लोक न्यायालयों में उन्हीं विवादों पर निर्णय दिया जा सकेगा जिनको सुनने एवं न्याय प्रदान करने के लिये वादी तथा प्रतिवादी दोनों ने अपनी स्वतन्त्र स्वीकृति प्रदान की हो। ड्राफ्ट बिल में इस बात का भी प्रावधान किया गया है कि लोक न्यायालयों के निर्णयों को कानूनी संरक्षण दिया जा सकेगा तथा ऐसे निर्णयों की सामान्य न्यायालयों में कोई अपील नहीं होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक न्यायालयों की स्थापना के पश्चात गरीबों को सस्ता एवं सुलभ न्याय कोई दूर का सपना नहीं बल्कि शाश्वत एक तथ्य है।

7. छात्र विधिक सहायता प्रकोष्ठ :

कानूनी सहायता के सन्दर्भ में महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में कानून का अध्ययन करने वाले छात्र महत्त्वपूर्ण योग अदा कर सकते हैं। दुनिया के अन्य देशों में कानून के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों ने इस परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, जाम्बिया, चिली, इन्डोनेशिया एवं श्रीलंका आदि देशों के विधि छात्रों ने अपने प्राध्यापकों एवं अधिवक्ताओं के संरक्षण में इस क्षेत्र में जिम्मेदारी के साथ अपनी सेवायें समर्पित की हैं। हमारे देश में भी विधि विद्यालय कानूनी सहायता के लिए मूल्यवान स्रोत बन सकते हैं एवं इनके अन्तर्गत स्थापित छात्र विधिक सहायता के प्रकोष्ठ पर्याप्त जनशक्ति प्रदान कर सकते हैं। अभी देश में कानूनी सहायता के लिये कुछ गिने चुने छात्र विधिक प्रकोष्ठ ही हैं, लेकिन विधि विद्यालयों में ऐसे प्रकोष्ठ स्थापित करने के प्रति काफी उत्साह देखा जा रहा है।

छात्र विधिक सहायता प्रकोष्ठ के कार्य को निम्न खण्डो मे विभाजित किया जा सकता है ।

1. **कानूनी चेतना खण्ड** (Legal Awareness Cell)—इसके अन्तर्गत छात्र ग्रामीण क्षेत्रो में जाकर ग्रामवासियो मे कानूनी जागरण का शख फूकेंगे । नवीनतम कानूनो द्वारा कृषक, मजदूर आदि को प्राप्त अधिकारो से उन्हें परिचित कराया जायगा, कानून के सरलतम स्वरूप को ग्रामवासियो मे वितरित किया जायगा, ताकि प्राथमिक कानून का ज्ञान हो जाने पर वे अज्ञानता के अधकार मे कानून के शिकार न बन जाय ।

2. **साहित्य खण्ड** (Literature Cell)—कानून की 'क्लिष्टता' एव जटिलता को सरलतम स्वरूप मे परिवर्तित व रूपान्तरित करने का कार्य इस खण्ड के अन्तर्गत होगा । उक्त खण्ड दैनिक उपयोग म आने वाले कानून का सरल हिन्दी भाषा में रूपान्तरण कर कानून को बुद्धिजीवियों की सीमाओ मे बाहर निकाल सकेगा जिससे जन साधारण व्यक्ति को कानून के मुख्य प्रावधानो का ज्ञान हो सके ।

3. **नगर सुधार न्यास खण्ड**(Urban Improvement Trust Cell)—यह खण्ड शहर की कानूनी-समस्या का अध्ययन कर उसके निराकरण का प्रयत्न करेगा । शहरी जीवन मे सम्बन्धित मुख्य-मुख्य कानूनों का शहर के नागरिकों को साहित्य उपलब्ध कराना जैसे मकान मालिक व किरायेदार के अधिकार व कर्तव्य, पुलिस के अधिकार एव कर्तव्य, सड़क यात्रा के नियम आदि एव शहर की किसी एक अदालत मे जाकर सांख्यिकी गणना करना कि कितने निरीह व्यक्ति कानून के शिकंजे में फसे हुए हैं एव किस प्रकार से उन्हे मुक्ति प्रदान की जा सकती है ।

4. **महिला खण्ड** (Women Cell) महिलाओं की विशिष्ट समस्याओं जैसे सम्बन्ध विच्छेद, निर्वाहवृत्ति की व्यवस्था, न्यायिक विलगाव आदि का समाधान इस खण्ड द्वारा होगा । महिला सामाजिक कार्यकर्त्ताओ के साथ विधि की छात्राएँ इन गम्भीर समस्याओ की पूर्ण खोजबीन करेंगी तथा यथा प्रयत्न सहयोग व सद्भावना के आधार पर समस्याओं को सुलझाने का कार्य किया जायेगा ।

5. **समझौता खण्ड** (Reconciliation Cell) अन्तिम किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खण्ड का कार्य न्यायालय मे चल रहे या सस्थापित होने जा रहे वादो मे यथा सम्भव समझौता कराना, परस्पर सहयोग व चिन्तन के लिये विरोधी पार्टियो को आमन्त्रित कर न्यायालयो के लम्बे चौडे, अधिक समय व खर्चीली प्रक्रिया से मुक्ति दिलाने का कार्य, ताकि वर्षो से चल रहे विवादो को शीघ्र व परस्पर सहयोग के आधार पर निर्णीत किया जा सके ।

समय-समय पर यह माग की गई की विधि छात्रों का न्यायालयो मे उपस्थित होने की अनुमति दी जानी चाहिये, लेकिन आम तौर पर यह माग स्वीकार नहीं की गई है । लकिन कुछ ऐसे मूलभूत नियम बनाये जा सकते हैं जिनसे विधि

के छात्रों का उपयोग निर्धनों को कानूनी सहायता उपलब्ध कराने में किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री वी. आर. कृष्णा अय्यर द्वारा केन्द्रीय सरकार को प्रस्तुत की गई "कानूनी सहायता पर विशेषज्ञ समिति की रपट" के तत्सम्बन्धी प्रावधान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। रपट में भारतीय अधिवक्ता अधिनियम की धारा 33 के पश्चात् एक और धारा 33-ए को जोड़ने की सिफारिश की गई है—

"कानूनी सहायता पर विशेषज्ञ समिति" की उपरोक्त सिफारिश को स्वीकार करने एवं तत्सम्बन्धित प्रावधान को भारतीय अधिवक्ता अधिनियम में समाहित करने से अवश्य ही छात्र विधिक सहायता प्रकोष्ठ शिक्षण के एक औजार के रूप में पर्याप्त मूल्यवान हो सकते हैं।

8. उपसंहार :

असहाय को कानूनी सहायता उपलब्ध कराने से सम्बन्धित ऐतिहासिक सांविधानिक, सामाजिक एवं आर्थिक तथा प्रक्रिया सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श के पश्चात् हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में तनिक भी सन्देह प्रतीत नहीं होता कि इस देश में शान्तिपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने की दिशा में कानूनी सहायता राज्य एवं समाज का एक महत्त्वपूर्ण अविभाज्य अंग है। देश की न्याय प्रणाली को स्वतन्त्र भारत की जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप बनाने तथा उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक न्याय उपलब्ध कराने की दिशा में कानूनी सहायता एक पुनीत एवं क्रान्तिकारी कदम है। आइये, इस आन्दोलन को साकार एवं सफल बनाने में हम सभी अपना योगदान दें।

भारत का उच्चतम न्यायालय

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का प्रतीक

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक-संघीय व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय की भूमिका
2. उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन
3. न्यायाधीशों की नियुक्तियां
4. न्यायाधीशों की योग्यताएं
5. न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते
6. न्यायाधीशों की सेवा शर्तें
7. उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार
8. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता उच्चतम न्यायालय की भूमिका
9. उपसंहार

1. प्रारम्भिक-संघीय व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय की भूमिका

संघात्मक संविधानों का मूल आधार राज्य की समस्त शक्तियों का केन्द्र एवं राज्यों में स्पष्ट एवं निर्दिष्ट रूप से विभाजन है। विश्व के विभिन्न संविधानों के गहन अध्ययन से यह स्पष्ट अनुभव देखने को मिलता है कि शक्ति-विभाजन के बावजूद केन्द्र एवं राज्यों में विवाद बने रहते हैं जिनका यथाशीघ्र निपटारा राजनीतिक स्थिरता की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे समस्त विवादों का निपटारा सांविधानिक उपबन्धों के आधार पर ही किया जा सकता है। प्राकृतिक न्याय की यह सार्वभौम मान्यता है कि ऐसे विवादों को एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्राधिकरण द्वारा अभिनिर्णीत किया जाना चाहिए। भारत का उच्चतम न्यायालय संघीय संविधान की भावनाओं के अन्तर्गत एक ऐसा ही निकाय है, एतदर्थ यह संघीय व्यवस्था का आवश्यक एवं अभिन्न अंग है।

संविधान की व्याख्या के सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय को सर्वोच्च अधिकारिता प्रदान की गई है। इसे संविधान का संरक्षक भी कहा जाता है। केन्द्र एवं राज्यों के विवादों के सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय का निर्णय अन्तिम होगा। उच्चतम न्यायालय को न केवल संविधान के समस्त उपबन्धों की व्याख्या करने का, बल्कि संसद तथा राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों की व्याख्या करने का भी अधिकार प्राप्त है।

भारत का उच्चतम न्यायालय 1937 में स्थापित संघीय न्यायालय से कहीं अधिक शक्तिशाली है। अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय को संविधान के भाग 3 में उल्लिखित मूल अधिकारों का संरक्षक माना गया है। इस सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय नागरिकों को विधान-मण्डल द्वारा पारित असंवैधानिक विधियों तथा स्वेच्छाचारी प्रशासनिक कार्यों से संरक्षण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति द्वारा सन्दर्भित विधि-विषयक प्रश्नों तथा तथ्यात्मक प्रश्नों पर अपनी सलाह प्रदान कर एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

उच्चतम न्यायालय की जो अनुपम स्थिति है उसे संविधान की प्रारूप समिति के एक प्रमुख सदस्य अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने निम्न शब्दों में बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत की है—"भारतीय संविधान का भावी विकास बहुत कुछ उच्चतम न्यायालय के कार्यों और उसके द्वारा दिखाई गई दिशा पर निर्भर होगा। यह न्यायालय समकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर न्याय प्रशासन नहीं कर सकेगा। इसे परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों के मध्य सन्तुलन बनाए रखना होगा। यही वह न्यायालय है जिसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक नियन्त्रण के बीच रेखा खींचनी है।

2. उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन

10 अक्टूबर 1949 तक इंगलैण्ड की प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति भारत के सर्वोच्च न्यायालय का कार्य करती थी। इसके अतिरिक्त भारत शासन अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत स्थापित संघीय न्यायालय उच्चतम न्यायालय के रूप में कार्य करता था। 26 जनवरी, 1950 को भारतीय संविधान लागू हुआ और भारतीय गणराज्य सार्वभौम सत्ता सम्पन्न राज्य स्थापित हुआ तथा उसके साथ ही उच्चतम न्यायालय का प्रादुर्भाव हुआ।

संविधान के अनुच्छेद 124–147 तक उच्चतम न्यायालय की स्थापना एवं उसके न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्बन्धी उपबन्ध न्यायालय के क्षेत्राधिकार, न्यायालय द्वारा घोषित विधि का बन्धनकारी स्वरूप, इत्यादि के सम्बंध में विभिन्न प्रावधान प्रस्तुत किये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 124 के अनुसार उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति और 17 अन्य न्यायाधीश होते हैं। परन्तु अनुच्छेद 124 (1) के अधीन भारतीय संसद को अधिकृत किया गया है कि वह विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा सकेगी।

संविधान के प्रारम्भ में मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय में 7 अन्य न्यायाधीश थे। भारतीय संसद ने सन् 1977 में एक विशेष अधिनियम द्वारा अब न्यायाधीशों की संख्या 18 कर दी है जिसमें मुख्य न्यायाधिपति भी सम्मिलित है।

3. न्यायाधीशों की नियुक्तियां

उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के प्रयोजन हेतु वह उच्चतम न्यायालय व राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करते है जिन्हें वे आवश्यक समझते है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे भारत के मुख्य न्यायाधीश मे परामर्श करना राष्ट्रपति का संवैधानिक दायित्व है। यहा यह स्पष्ट करना यथोचित होगा कि राष्ट्रपति का यह परामर्श केन्द्रीय मंत्रिमण्डल का ही परामर्श माना जायेगा, एतदर्थ राष्ट्रपति की यह शक्ति केवल औपचारिक मात्र ही है।

संविधान के अनुच्छेद 124 (2) एव (3) के अधीन, भारत के राष्ट्रपति मे यह शक्ति निहित की गई है कि वह संविधान म निहित योग्यता-धारक किसी व्यक्ति को मुख्य न्यायाधिपति पद पर नियुक्त करे। संविधान मे इस प्रकार का कोई उल्लेख नही किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के ज्येष्ठतम न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त किया जाए। लेकिन संविधान के प्रारम्भ से ही यह परम्परा बनी हुई थी कि राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के ज्येष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त किया जाता था। 1973 से पूर्व लगातार 22 वर्षो तक उक्त परम्परा के अनुसार मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती रही, लेकिन 1973 मे राष्ट्रपति ने इस परम्परा को समाप्त कर ऐसे न्यायाधीश की नियुक्ति कर दी जो ज्येष्ठतम न्यायाधीश न होकर ज्येष्ठता-क्रम मे चतुर्थ स्थान पर पदासीन था। राष्ट्रपति द्वारा श्री अजीतनाथ राय को मुख्य न्यायाधिपति क पद पर नियुक्त करने पर समूचे राष्ट्र मे यह लोक-चर्चा का विषय बन गया तथा इसम एक सांविधानिक विवाद उत्पन्न हो गया। प्राय. यह कहा जाने लगा कि सरकार न वर्षो से चली आ रही परम्परा को इसलिए तोडा कि न्यायाधीश राय ने 25 अप्रल, 1973 को **केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य** के मामले मे अपना विनिश्चय पूर्णतया सरकार के पक्ष म अभिनिर्धारित किया था।

1978 मे यह प्रश्न पुन उपस्थित किया गया, जब मुख्य न्यायाधिपति बेग की सेवा-निवृत्ति के फलस्वरूप, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति सम्बन्धी प्रश्न केन्द्र सरकार के समक्ष रखा। तत्कालीन जनता सरकार ने मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के सम्बन्ध म अपना दृष्टिकोण आम निर्वाचन (1977) के दौरान भारत की करोडो जनता के सामने रख दिया था। एतदर्थ जनता सरकार ने वरिष्ठता के आधार पर न्यायाधिपति चन्द्रचूड को मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त किया। अब प्रतीत होता है कि भविष्य म पुरानी परम्पराओं को ही अपनाया जाएगा।

4. न्यायाधीशों की योग्यताएं :

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश-पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति के

लिए निम्न योग्यताओं का होना अनिवार्य है—(क) वह भारत का नागरिक हो। (ख) किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में कम से कम 5 वर्ष तक लगातार न्यायाधीश रहा हो। (ग) किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक न्यायालयों में लगातार कम से कम 10 वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो। (घ) राष्ट्रपति की राय में वह पारंगत विधिवेत्ता हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी पारंगत विधिवेत्ता को भी उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है, लेकिन उच्चतम न्यायालय के गत 33 वर्षों के इतिहास में संविधान के इस उपबंध का अभी तक एक बार भी उपयोग नहीं किया गया है, संयुक्त राज्य अमेरिका में सुप्रसिद्ध विधिवेत्ताओं को, (जिनमें विश्वविद्यालयों के विधि-प्राध्यापक भी सम्मिलित होते हैं) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के पदों पर नियुक्त किए जाने की परम्परा बनी हुई है।

5. न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते :

विश्व के अन्य संविधानों में न्यायाधीशों के वेतन-निर्धारण के मामले वहां की विधायिका पर छोड़ दिये गए हैं। लेकिन भारत में उच्चतम न्यायालय की गरिमा, न्यायाधीशों के स्वतन्त्र चिन्तन तथा निष्पक्ष आचरण को ध्यान में रखते हुए सांविधानिक उपबन्धों द्वारा उनके वेतन का निर्धारण किया गया है। संविधान की द्वितीय अनुसूची में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन 4,000 रुपये प्रति माह तथा मुख्य न्यायाधिपति का वेतन 5,000 रुपये प्रतिमाह निश्चित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश को निःशुल्क आवास-व्यवस्था, अन्य भत्ते तथा विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती है। न्यायाधीशों के वेतन इत्यादि में कटौती नहीं की जा सकती है। केवल वित्तीय आपात्-स्थिति में संसद द्वारा उनके वेतन इत्यादि में कटौती की जा सकती है।

वेतन आदि के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को बिना किराए का निवास उपलब्ध कराने के प्रावधान किये गये हैं। जिस समय वे अपने कर्तव्यों के निर्वहन के सम्बन्ध में यात्रा करते हैं तो उन्हें यात्रा सम्बन्धी सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं। न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, पेन्शन, आदि भारत के संचित निधि पर भारित होते हैं। इसलिये ये व्यय संसद की स्वीकृति के विषय नहीं हैं। इसका यह अभिप्राय है कि संसद न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्तों आदि पर वाद-विवाद तो कर सकती है, परन्तु उसे संविधान द्वारा इनमें किसी प्रकार की कटौती करने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है।

उक्त उपबन्धों का मुख्य रूप से प्रयोजन है कि न्यायाधीश अपने कर्तव्यों का निर्वहन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष रूप में करें तथा साहस-पूर्वक विधि-अनुसार न्याय-प्रशासन का कार्य करते रहें।

6. न्यायाधीशों की सेवा-शर्तें —

उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशों की सेवा शर्तों के विषय में संविधान में निम्नलिखित प्रावधान किए गये हैं—

(1) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद को धारण करते हैं। तत्पश्चात् वे अपनी सेवा से ,निवृत्त हो जायेंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका म उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश जीवन पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते हैं।

(2) न्यायाधिपतियों को अपना पद-धारण करने से पूर्व राष्ट्रपति अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष शपथ प्रतिज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है।

(3) राष्ट्रपति को सम्बोधित कर, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपति अपने पद से त्याग पत्र भी प्रस्तुत कर सकते है।

(4) उच्चतम न्यायाधिपति को पद-मुक्त भी किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपति को दुर्व्यवहार तथा मानसिक एवं शारीरिक अक्षमता के आधार पर पद-मुक्त किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश सेवा-निवृत्ति के पश्चात् सम्पूर्ण भारत क्षेत्र में किसी न्यायालय अथवा अन्य प्राधिकारी के समक्ष वकालात नहीं कर सकेगा। लेकिन राष्ट्रपति की विशेष अनुमति द्वारा किसी विशिष्ट अवधि व कार्य के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त किए जा सकते हैं।

7. उच्चतम-न्यायालय के क्षेत्राधिकार .—

सर्वोच्च न्यायालय एक "अभिलेख न्यायालय" का कार्य करता है। इसके कृत्यों एवं न्यायिक निर्णयों को स्थायी स्मृति के लिये अभिलिखित किया जाता है और उन्हें किसी न्यायालय म चुनौती नहीं दी जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को "अपनी मान-हानि की जांच करने व उसके प्रति दण्ड देने का पूर्ण अधिकार है।" सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिकार का प्रयोग भी किया है। क्षमा-याचना करने पर क्षमा करने का अधिकार भी उच्चतम न्यायालय को प्राप्त है।

उच्चतम न्यायालय देश का अधिकतम सामर्थ्यवान न्यायालय है। उसको अपीलीय व मौलिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त है। भारत सरकार व किसी एक या अधिक राज्य (राज्यों) के मध्य, अथवा एक ओर भारत सरकार व एक या अधिक राज्य एवं दूसरी ओर अन्य एक या अधिक राज्यों के मध्य अथवा यदि विवाद म कोई विधि या ऐसे तथ्य सम्बन्धी प्रश्न निहित हो जिस पर वैध अधिकार का अस्तित्व अथवा उसकी परिसीमा निर्भर करती हो, तो देश दो या अधिक राज्यों के मध्य वाद की सुनवाई का अनन्य एवं मौलिक अधिकार उच्चतम न्यायालय को प्राप्त है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत संविधान की व्याख्या करने का अन्तिम

निर्णय सर्वोच्च न्यायालय को है। उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध वह अपना निर्णय दे सकता है।

फौजदारी मामलों में भी इसी न्यायालय में अपील की जा सकती है। यह अपील तभी की जा सकती है जब उच्च न्यायालय (अ) अपील पर किसी अभियुक्त को बरी करने का आदेश रद्द करके उसे प्राण दण्ड दे दे, (ब) अपने अधीनस्थ न्यायालय से कोई अभियोग स्वयं सुनवाई के लिये मंगवाकर अभियुक्त को दोषी पाकर प्राणदण्ड दिया हो, (स) प्रमाणित किया हो कि अभियोग उच्चतम न्यायालय में अपील करने योग्य है।

संविधान की धारा 134 उपधारा (2) द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह विधिवत् कानून बनाकर सर्वोच्च न्यायालय को किसी उच्च न्यायालय को किसी उच्च न्यायालय द्वारा दी गई फौजदारी कार्यवाही के फलस्वरूप दिये गये किसी निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्ड के प्रति अपील स्वीकार करने का अधिकार प्रदान कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय स्वयं भी अपील की विशेष अनुमति देने का अधिकार रखती है। वर्तमान विधि के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय संघीय न्यायालय के अधिकारों एवं क्षेत्राधिकार का प्रयोग या उपयोग कर सकता है। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श भी ले सकता है। राष्ट्रपति यदि परामर्श मांगें तो सर्वोच्च न्यायालय परामर्श देने को बाध्य है। सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की कुछ सीमायें भी हैं। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि सभी न्यायालयों पर अनिवार्यतः प्रवर्तनीय है अर्थात् लागू होती है। सर्वोच्च न्यायालय की डिक्रियों व आदेशों को लागू करने तथा निवृत्ति के आदेश देने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय को अपने आदेशों तथा निर्णयों पर पुनर्विचार करने का अधिकार है। मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये सर्वोच्च न्यायालय को रिट आदेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में उच्चतम न्यायालय को व्यापक अधिकार प्राप्त है उसे मौलिक एवं अपीलीय क्षेत्राधिकार के साथ परामर्श देने का अधिकार क्षेत्र भी है। संविधान की व्याख्या करने तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा करने का अधिकार भी सर्वोच्च न्यायालय को है।

8. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता : उच्चतम न्यायालय की भूमिका।

किसी देश के शासन संचालन एवं नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित करने हेतु एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की आवश्यकता होती है जो बिना किसी डर तथा पक्षपात के न्याय निर्णयन कर सके। इस दृष्टि से न्यायपालिका को समस्त राजनीतिक दबावों से दूर रखना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे संविधान में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए अनेकों प्रावधान किये गये हैं ताकि कार्यपालिका, संसद तथा राज्यों के विधान-मण्डल न्यायाधीशों के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न कर सकें तथा नागरिकों को निष्पक्ष न्याय प्रदान किया जा

सकें। हमारे सविधान में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हेतु निम्न उपबन्ध किय गये हैं :—

(1) उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवा-सुरक्षा सम्बन्धी उचित उपबन्ध किए गये हैं। जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को कार्यपालिका द्वारा नहीं बल्कि ससद द्वारा कदाचार तथा असमर्थता के आरोपों के आधार पर विशेष बहुमत से उन्हें पदमुक्त करने हेतु राष्ट्रपति को सिफारिश की जा सकती है।

(2) उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति पर सविधान के विभिन्न उपबन्धों को सरक्षित करने का दायित्व अधिरोपित किया गया है। एतदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे वह सदैव सविधानिक उपबन्धों के अनुसरण म अपना कार्य सम्पादन करता है। हमारे देश मे न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध म निर्वाचन की पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है, जैसा कि सयुक्त राज्य अमरिका म न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में निर्वाचन की पद्धति अपनाई जाती है। हमार सविधान की इस विशेषता के फलस्वरूप न्यायपालिका मे राजनीतिक दलबन्दी का प्रभाव नहीं पड़ता है। न्यायाधीशों को उचित वेतन तथा भत्ते एव अन्य सुविधायें तथा विशेषाधिकार प्रदान किये गय है। न्यायाधीशो के वेतन तथा भत्तों को केन्द्र की सचित-निधि मे प्रदान किया जाता ह, ताकि उनको वेतन नियमित रूप से मिलता रहे। न्यायाधीशो के वेतन भत्ते आदि मे कार्यपालिका अथवा ससद द्वारा भी किसी प्रकार की कोई कटौती नहीं की जा सकती है।

(3) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की कार्यविधि 65 वर्ष तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की कार्य विधि 62 वर्ष की आयु तक निर्धारित की गई है। वे अपने पदों पर निर्धारित आयु तक बने रहेंगे यदि उनका आचरण तथा कार्यक्षमता बनी रहती है। सुरक्षा हेतु उनकी पदावधि एक लम्बे समय तक रखी गई है।

(4) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने क लिए यह परमावश्यक है कि ऐसे पदों पर अनुभवी तथा उच्च योग्यता-धारक व्यक्तियों की ही नियुक्ति के सम्बन्ध में ऐस ही प्रावधान किये गये है।

(5) न्यायाधीशों को सविधान मे विहित पद्धति द्वारा राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के समक्ष शपथ दिलवाई जाती है कि वे बिना भय, पक्षपात तथा विद्वेष के न्याय-निर्णयन का कार्य करेंगे और सविधान तथा देश की विधिक व्यवस्था मे अन्तर्निहित मान्यताओं को बनाये रखेंगे।

(6) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को अपनी सेवा निवृत्ति के बाद भारत के किसी भी न्यायालय म वकालात करने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की गई

है ताकि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश अपने भूतपूर्व न्यायाधीशों से निर्णय लेते समय प्रभावित नहीं हो सकें।

(7) संविधान के अनुच्छेद 129 एवं 215 में उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का अपमान करने के सम्बन्ध में व्यक्ति को दण्ड देने सम्बन्धी उपबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि न्यायाधीशों के निर्णयों की समीक्षा ही नहीं की जा सके। न्यायिक निर्णयों की सत्य आलोचना वर्जित नहीं है।

(8) हमारी संसद उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की शक्ति और क्षेत्राधिकार बढ़ा तो सकती है लेकिन उसमें किसी प्रकार की कमी करने का अधिकार संसद को प्रदान नहीं किया गया है। अनुच्छेद 32 में उपबन्धित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उच्चतम न्यायालय की रिट-अधिकारिता अत्यन्त व्यापक है। न्यायाधीश रिटों के अतिरिक्त अन्य कोई आदेश जारी कर नागरिकों को सामाजिक-आर्थिक न्याय प्रदान कर सकते हैं।

9. उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संविधान में न्यायपालिका की निष्पक्षता एवं स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए पर्याप्त सुरक्षाएं उपबन्धित किये गये हैं। लेकिन यह देखा गया है कि केन्द्र अथवा राज्य सरकारों द्वारा सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों को विभिन्न आयोगों में अध्यक्ष के रूप में कार्य करने हेतु नियुक्ति प्रदान की जाती है। यह एक खेद का विषय है क्योंकि न्यायाधीश जब अपने न्याय-निर्णयन के कार्यों में व्यस्त होते हैं तो यह सुविधा उनको लालायित कर सकती है। तदनुसार यह लालच उनके न्याय-निर्णय की स्वतन्त्र प्रकृति के कार्यों में बाधा पहुँचाये बिना नहीं रह सकता। विधि आयोग ने इस विषय पर अपना प्रतिवेदन देते हुए कहा है कि इस प्रथा से न्यायाधीश की स्वतन्त्रता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है, अतएव इसे समाप्त किया जाना चाहिए।

39वें व 42वें संविधान संशोधन द्वारा उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को सीमित करने का प्रयास किया गया था। आपात् काल में न्यायालय की प्रतिष्ठा तथा न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार को और अधिक सीमित किया गया। 43वें व 44वें संविधान संशोधन द्वारा उच्चतम न्यायालय की प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठापित किया गया। संसद की सर्वोच्चता के माध्यम से कार्यपालिका की शक्ति में अभिवृद्धि करना लोकतन्त्रीय व्यवस्था की चुनौती है। आशा है उच्चतम न्यायालय अपनी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता बनाये रखेगी ताकि न्यायाधीश निष्पक्षता तथा निर्भीकता द्वारा अपना कार्य कर सकें।

आरक्षण : एक राष्ट्रीय नीति के रूप में

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
3 संवैधानिक दृष्टिकोण
4 न्यायिक निर्णय
5. आरक्षण एव प्रशासकीय कुशलता
6. आरक्षण एव रोजगार की समस्या
7. उपसहार

1 प्रारम्भिक

जनवरी 1980 म भारतीय समद न सर्वसम्मति म अनुसूचित जातियो, जनजातियो एव पिछडे वर्गों के लिए आरक्षण की अवधि को अगले दस वर्षों तक और बढा दिया है। आरक्षण की इस लोक नीति को प्राय सभी राजनैतिक दलो का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। दूसरी ओर आरक्षण क इस प्रश्न को लेकर अनेको स्थानो पर हुए आदोलनो को भी नजरदाज नहीं किया जा सकता है। अतएव आरक्षण की समस्या का बदलती हुई परिस्थितियो म सभी दृष्टिकोणो क आधार पर गहन अध्ययन, चिन्तन एव विश्लेषण अत्यत आवश्यक है। प्रस्तुत लेख म आरक्षण विषयक राष्ट्रीय नीति के ऐतिहासिक, सवैधानिक, आर्थिक, सामाजिक एव न्यायिक निर्णयो स सम्बधित विभिन पहलुओ पर विस्तार स चर्चा की गई है ताकि पाठक विषय की गम्भीरता को हर पहलू से हृदयगम कर सकें।

2. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

15 अगस्त, 1947 की पुनीत बेला म हमे ब्रिटिश राजनैतिक परतत्रता स मुक्ति प्राप्त हुई और हमारे देश का लोकतत्रीय पद्धति स नवनिर्माण करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। इस उद्देश्य हेतु 26 नवम्बर, 1950 को कान्स्टीट्यूएण्ट ऐसम्बली के अथक प्रयत्नो द्वारा बनाय गय सविधान को भारत की जनता ने स्वीकार किया। सविधान की प्रस्तावना म नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय उपलब्ध कराने की घोषणा की गई। शोषण स मुक्त न्यायपूर्ण समाज के निर्माण की राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा को सविधान म ' राज्य क नीति निर्देशक सिद्धातो" के रूप मे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इन सिद्धातो को देश के प्रशासन

के संदर्भ में मूलभूत घोषित किया गया। संविधान की प्रस्तावना में अंतर्निहित सिद्धांत तथा राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत केवल मात्र आदर्श ही बने रहते, यदि संविधान में उन लाखों करोड़ों लोगों के लिए कोई उपचार प्रबंधित नहीं किये गये होते जिन्हें सदियों से उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता रहा है। एतदर्थ संविधान में अनुसूचित जाति, जनजाति तथा पिछड़े वर्गों के सदस्यों के लिए आरक्षण सम्बन्धी प्रावधान किये गये। यह हमारे लिये गौरव का विषय है कि कान्स्टीट्यूएन्ट ऐसेम्बली में आरक्षण के प्रश्न पर कोई विवादास्पद प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ। यहां तक कि आरक्षण सम्बन्धी प्रावधानों को बन्धुत्व की भावना से स्वीकार किया गया।

34 वर्ष पूर्व आरक्षण लागू करने का उद्देश्य सदियों से चले आ रहे शोषण, उत्पीड़न एवं हीनता से ग्रस्त अनुसूचित जातियों, जन जातियों, आदिवासियों को राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में सम्मिलित करना था ताकि सदियों से उपेक्षित समाज के ये लोग आत्म-सम्मान के साथ समानता का स्तर प्राप्त कर सकें। लेकिन आज तीन से अधिक दशाब्दी की समाप्ति पर भी यह गम्भीर एवं विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। वस्तुतः इस प्रश्न का हल राजनीति नहीं, अपितु वर्तमान आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन का है।

3. संवैधानिक दृष्टिकोण :

संविधान का अनुच्छेद 14 यह उपबन्धित करता है "भारत राज्य क्षेत्र में राज्य द्वारा किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जायेगा।" "संयुक्त राष्ट्र मानवीय अधिकार घोषणा पत्र" के अनुच्छेद 7 में भी उक्त वाक्यांश प्रयोग में लिये गये हैं। इसी भांति अनुच्छेद 15 (2) द्वारा धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, जन्म-स्थल अथवा इनमें से किसी आधार पर नागरिकों के विरुद्ध भेदभाव किया जाना निषिद्ध माना गया। भारत सदियों से एक परम्परागत समाज रहा है एवं संविधान लागू करते समय इसे एक असमान आर्थिक एवं सामाजिक ढांचा विरासत में मिला था। यही कारण है कि प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 15 (4) और जोड़ा गया। अनुच्छेद 15 (4) के अन्तर्गत राज्य किन्हीं सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों एवं अनुसूचित जातियों और आदिवासियों के उत्थान के लिए विशेष व्यवस्था करने के लिये प्राधिकृत है। इसी भांति अनुच्छेद 16 (4) द्वारा राज्य को अधिकृत किया गया है कि वह लोक सेवाओं में उन पिछड़े वर्गों के लिये स्थान सुरक्षित रख सकती है जहां उनका समुचित प्रतिनिधित्व नहीं है। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि अनुच्छेद 15 (4) एवं 16 (4) राज्य को केवल उक्त वर्गों के लिए प्रावधान करने के लिए सक्षम बनाता है, लेकिन ये उपबन्ध राज्य पर आवश्यक रूप से कोई विधिक दायित्व अधिरोपित नहीं करते। सारांश में, राज्य अपनी स्वेच्छा तथा सुविधानुसार आरक्षण की नीति अपना सकता है।

4. न्यायिक निर्णय

संविधान लागू होने के पश्चात् आरक्षण के प्रश्न से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर अनेकों विवाद उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये गये। सबसे पहला महत्वपूर्ण वाद **वेंकटरमन बनाम मद्रास राज्य का** (1951) है। इस वाद में उच्चतम न्यायालय को मद्रास राज्य के एक आदेश की संवैधानिकता पर निर्णय प्रदान करना था जिसके द्वारा मद्रास राज्य ने कुछ स्थान मुसलमान, हिन्दू, ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य समुदाय तथा ईसाइयों के लिये सुरक्षित किये गये थे। उच्चतम न्यायालय ने उक्त आदेश को असंवैधानिक बताते हुए स्पष्ट किया कि संविधान के निर्माताओं का आशय पिछड़े वर्गों के अतिरिक्त अन्य समुदायों के लिए आरक्षण करने के लिये नहीं था।

संविधान का अनुच्छेद 15 (4) संविधान संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा जोड़ा गया था क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने **मद्रास बनाम चम्पाकम दोराईराजन** के मामले में मद्रास राज्य द्वारा प्रसारित उस आदेश को निरस्त कर दिया था जिसमें राज्य में पिछड़े वर्ग के विद्यार्थियों के लिए राज्य के मेडिकल कालेज में कतिपय स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था की थी। संविधान के अनुच्छेद 46 में राज्य पर यह कर्त्तव्य अधिरोपित किया गया है कि वह समाज के कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा हेतु विधि निर्माण कर विशेष व्यवस्था उपबन्धित करेगी। एतदर्थ मद्रास राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित उक्त विधि को न्यायोचित बताते हुये न्यायालय के समक्ष यह तर्क दिया कि उक्त राजकीय आदेश का उद्देश्य जनता के समस्त वर्गों के लिये सामाजिक न्याय प्रदान करना था जो संविधान की प्रस्तावना में अन्तर्निहित किया गया है तथा अनुच्छेद 46 द्वारा अपेक्षित है, लेकिन उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त शासकीय आदेश असंवैधानिक है, क्योंकि इसके द्वारा धर्म, मूलवंश तथा जाति के आधार पर अभ्यर्थियों के साथ विभेद किया गया है। न्यायालय ने यह अवधारणा प्रस्तुत की है कि संविधान में उल्लिखित नीति निदेशक तत्व नागरिकों के मूल अधिकारों से सर्वोपरि नहीं है। अतएव निर्देशक तत्वों द्वारा मूल अधिकारों पर कोई आघात नहीं पहुँचाया जा सकता। **मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराईराजन** के प्रभाव को निरस्त करने हेतु प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा अनुच्छेद 15 (4) जोड़ा गया।

पिछड़े वर्गों के आरक्षण के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने सर्वप्रथम **एम आर. बालाजी बनाम मैसूर राज्य** (1963) के वाद में अपनी सम्मति सर्वप्रथम स्पष्टरूप से प्रकट की है। न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने उक्त वाद में कहा है कि "सामाजिक पिछड़ापन अधिकांशतः गरीबी के परिणामस्वरूप व्याप्त है, अतएव नागरिकों का वह वर्ग जो गरीबी की रेखा सीमा में आते है, वे स्वतः सामाजिक

दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं। न्यायालय की दृष्टि में राज्य को अनुच्छेद 15(4) एवं 16(4) के अन्तर्गत आरक्षण की नीति निर्धारित करने का अधिकार है लेकिन ऐसी कोई नीति न्यायिक पुनरावलोकन के ऊपर नहीं है, अर्थात् न्यायालयों को परीक्षण का अधिकार है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह पिछड़ापन तथा लोक सेवाओं में उनके प्रतिनिधित्व की पर्याप्तता में सामंजस्य बनाये रखे।

पिछड़ी जातियों के लिए कितने प्रतिशत आरक्षण रखा जाना आवश्यक है इसका कोई उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है। संविधान के निर्माताओं ने केवल मात्र पिछड़ी जाति के लिये लोक सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की बात कही है। एम. आर. बालाजी बनाम मैसूर राज्य के वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारित किया है कि "पर्याप्त प्रतिनिधित्व" का आशय मोटे रूप से 50 प्रतिशत से कम है। लेकिन 50 प्रतिशत से कम कितना कम आरक्षण राज्य द्वारा किया जाना चाहिये, यह परिस्थिति विशेष पर निर्भर करता है।

संविधान द्वारा राज्य को यह विवेक प्रदान किया गया है कि वह हर परिस्थिति के संदर्भ में आरक्षण का प्रतिशत निर्धारित कर सकती है। उक्त वाद में न्यायालय की यह सम्मति थी कि यदि आरक्षण की अधिकतम सीमा 50 प्रतिशत से अधिक रखी जाती है तो वह अनुच्छेद 15(4) की भावना के स्पष्टतः प्रतिकूल मानी जायेगी।

देवदासन बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने भारत सरकार की लोक सेवाओं में नियुक्ति सम्बन्धी उस शासकीय आदेश को असंवैधानिक घोषित कर दिया, जिसमें अग्रनयन (Carry farward) के नियम को प्रतिपादित किया गया था। भारत सरकार के शासकीय आदेश के अनुसार अनुसूचित जाति तथा जन जाति के लिए 17½ स्थान प्रतिवर्ष राजकीय सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान किया गया था। उपर्युक्त नियमों में यह भी प्रावधान किया गया था कि यदि किसी वर्ष अभ्यर्थियों की कमी के कारण आरक्षित स्थान नहीं भरे जाते हैं तो उन्हें उस वर्ष अन्य अभ्यर्थियों के द्वारा भर लिया जावेगा, लेकिन उन स्थानों को अगले वर्ष की रिक्तता में सम्मिलित कर लिया जाएगा। यह क्रम करीब 3 वर्ष तक चालू रहा तथा चौथे वर्ष 53 स्थान (17·5 × 3) अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लिए आरक्षित किए गये तथा शेष स्थानों पर अन्य लोगों के द्वारा भर्ती की जा सकती थी। अतएव, एम. आर. बालाजी के मामले में प्रतिष्ठापित सिद्धान्त को आधार मानते हुए उच्चतम न्यायालय ने प्रस्तुत मामले में अग्रनयन (Carry farward) के नियम को अनुच्छेद 16(1) में दिए गए मूल अधिकार का उल्लंघन मानते हुए उसे असंवैधानिक घोषित कर दिया।

अखिल भारतीय शोषित कर्मचारी संघ (रेलवे) बनाम भारत संघ के मामले

मे न्यायाधिपति श्री कृष्ण अय्यर ने अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जाति को अनुच्छेद14 म एक नए वर्ग के रूप म स्वीकार किया है ताकि राज्याधीन सेव आ म अधिक सुविधाएं प्रदान करने हेतु उनका युक्तियुक्त वर्गीकरण किया जा सके। 50 प्रतिशत स अधिक आरक्षण के विषय पर अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने कहा है कि मानवीय समस्याओ का निवारण गणितीय आधार पर नही किया जा सकता ह। अतएव यदि 50% स अधिक आरक्षण किया जाता है तो वह अन्यायोचित नहा है। लेकिन आरक्षण सारवान रूप न अ यधिक है तो राज्याधीन सवाओ म किए गए चयन को अवैध घोषित किया जा सकेगा। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय न अपने पूर्व निर्णया बालाजी तथा देवदासन के मामले म प्रतिपादित सिद्धान्तो से कुछ सीमा तक पृथक हटकर निर्णय प्रदान किय हैं।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टडन (975) के बाद म उत्तर प्रदेश सरकार ने एक सरकारी राजाज्ञा द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों, पहाडी क्षेत्रो और उत्तराखण्ड क्षेत्रो के अभ्यार्थियो के लिय प्रदश के मेडीकल महाविद्यालयो म प्रवश के लिए स्थानो का आरक्षण किया। सरकार की ओर स यह तर्क प्रस्तुत किय कि इन क्षेत्रो के लोग सामाजिक एव शैक्षिक दृष्टि स पिछडे हुए हैं। अत उनके लिये आरक्षण आवश्यक है। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि ग्रामीण क्षेत्रो के अभ्यार्थियो के लिये मेडीकल कालज म प्रवेश हेतु पहाडी और उत्तराखण्ड के अभ्यार्थियो के लिय पदो का आरक्षण विधिमान्य है। ग्रामीण क्षेत्रो के आरक्षण को सामाजिक एव शैक्षिक पिछडे वर्ग के आधार पर मान्य नही ठहराया जा सकता है।

5 आरक्षण एव प्रशासकीय कुशलता

सविधान के निर्माताओं ने पिछडे वर्ग के लोगो के लिय आरक्षण की अभिलाषा स्पष्टत प्रकट की है लेकिन वे प्रशासकीय कुशलता को बनाय रखने के पक्षपाती थे। यही कारण था कि उन्होने अनुच्छेद 335 म इस सम्बन्ध मे आवश्यक प्रावधान किय हैं। अनुसूचित जातियो एव अनुसूचित जनजातियों की आरक्षण सम्बन्धी माग या अधिकार पर विचार करते समय प्रशासन म निपुणता का बनाय रखने की बात पर भी ध्यान देना होगा। केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारो ने इस सम्बन्ध म अब तक कितना ध्यान दिया है—यह एक विचारणीय प्रश्न है।

आरक्षण के एक और पहलू पर भी ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। इसम कोई सन्देह नही कि अनुसूचित जातियो के आर्थिक दृष्टि से पिछडे लोगो को सरकार द्वारा उदार सहायता तथा सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिय, परन्तु यदि आरक्षण क नाम पर पिछडे वर्गों के अपेक्षाकृत समृद्ध लोगो को अनावश्यक लाभ अर्जन व सुविधायें किन्ही राजनैतिक आधार पर प्रदान की जाती है तो ऐसे कार्यों की हर कदम पर भर्त्सना की जानी चाहिये।

भविष्य में सरकार द्वारा आरक्षण सम्बन्धी जो भी योजना बनाई जाये वह उद्देश्यपूर्ण होनी चाहिये जिसमें पिछड़े वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व व स्वर्ण जाति के लोगों का हित तथा प्रशासकीय कुशलता को समान रूप से ध्यान में रखा जाना चाहिए।

6. आरक्षण एवं रोजगार की समस्या

आरक्षण का रोजगार तथा रोजगार के वर्तमान सीमित साधनों से सीधा सम्बन्ध बना हुआ है। इस समस्या का निवारण वर्तमान अर्थ-व्यवस्था के आमूल चूल परिवर्तन में है। निजी उद्योगों का शनैः-शनैः राष्ट्रीयकरण किया जाना आवश्यक है। वर्तमान में स्थापित निजी उद्योगों एवं व्यवसायों में रोजगार प्रदान करने की एक राष्ट्रीय नीति बनाई जानी आवश्यक है। ऐसी राष्ट्रीय नीति का आधार भी वही होना चाहिये जो सार्वजनिक नियोजनों में उपलब्ध है अर्थात् वहां भी पिछड़े वर्ग के लोगों के लिये स्थान सुरक्षित किये जाने चाहियें।

किसी वस्तु का उत्पादन कितना हो, इसका आधार अथवा मापदण्ड जनता की आवश्यकता होनी चाहिये न कि उस वस्तु से नियोजक को होने वाले लाभ अर्जन में। कल्याणकारी राज्य में लाभ अर्जन इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना आवश्यकता के अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करना तथा एक शोषण विहीन समाज का निर्माण करना।

7. उपसंहार

संविधान के अनुच्छेद 41 में नागरिकों को "काम का अधिकार" प्रदान करने सम्बन्धी नीतिनिर्देशक सिद्धान्त का प्रावधान किया हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के 37 वर्ष गुजर जाने के बाद भी हमने इस दिशा में गहन चिन्तन, नीति निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन के द्वार बन्द कर रखे हैं। गत 37 वर्षों में यदि विभिन्न सरकारों द्वारा इस ओर कारगर कदम उठाये गये होते तो आज आरक्षण जैसी समस्या इतना विषम रूप नहीं ले पाती। संसद ने आरक्षण की वर्तमान अवधि को अगले 10 वर्ष के लिये और बढ़ाया है। 10 वर्ष किसी देश के राष्ट्रीय जीवन में कम नहीं होते। यदि हम अपनी आर्थिक नीतियों में परिवर्तन कर अगले 10 वर्षों में नागरिकों को अधिकार स्वरूप काम दिला सकें तो हमारी आर्थिक क्षेत्र के युद्ध में एक गौरवमय विजय होगी। लेकिन यदि स्थिति यथावत बनी रही तो हमें विषम परिस्थितियों से गुजरना होगा।

भारत का लोकतांत्रिक समाजवाद

सामान्य अवलोकन

1 प्रारम्भिक
2 समाजवाद की अवधारणा तथा उसका प्रादुर्भाव
3 लोकतान्त्रिक समाजवाद क्या है ?
4 लोकतान्त्रिक समाजवाद के उद्देश्य
5 लोकतान्त्रिक समाजवाद का आर्थिक दृष्टिकोण
6 लोकतान्त्रिक समाजवाद का पोषक हमारा राष्ट्रीय सविधान
7 लोकतान्त्रिक समाजवाद का मूल्याकन
8 उपसहार

1 प्रारम्भिक

विश्व की अनेको शासन प्रणालियो मे लोकतान्त्रिक समाजवाद को सर्वाधिक महत्त्व का स्थान प्रदान किया गया है। भारत की वर्तमान शासन प्रणाली भी वैचारिक दृष्टि से इसी शृखला मे सम्मिलित की जा सकती है। राजनीति के क्षेत्र म अधिनायकवाद, पूजीवाद, समाजवाद साम्यवाद आदि नाम प्रचलित है, लेकिन आज तीन प्रमुख राजनैतिक विचारधाराए सर्वग्राही है समाजवाद, साम्यवाद तथा पूजीवाद। हमारे देश म समाजवाद का नारा जितना जोर से लगाया जा रहा है, उतनी जोर स अन्य कोई आवाज प्रस्फुटित नही हो रही है। आज की दुनिया म समाजवादी सम्प्रदायो म मार्क्सवाद के बाद इसी विचारधारा का सर्वाधिक प्रभाव है।

2 समाजवाद की अवधारणा तथा उसका प्रादुर्भाव

समाजवाद अग्रेजी शब्द "सोशलिज्म" का हिन्दी पर्याय है। समाजवाद एक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था है जिसमे उत्पादन और विनिमय के आधारो पर समाज का नियन्त्रण होता है। यह एक राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था है जिसके द्वारा गरीब और अमीर के भेदभाव को मिटाकर गरीबो को सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए अधिकाधिक सुविधाए प्रदान की जाती है। अत समाजवाद समाज के आर्थिक दृष्टि स कमजोर व्यक्तियो के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करती है।

समाजवाद की परिभाषा देना कठिन है क्योकि समाजवादी विचारक कई

यह तभी हो सकता है कि जब व्यक्ति को अपने विकास की आवश्यक सुविधाएँ मिलें अर्थात् वह रोजी-रोटी की चिन्ताओं से मुक्त हो।

3. लोकतान्त्रिक समाजवाद क्या है ?

लोकतान्त्रिक समाजवाद एक व्यापक आन्दोलन है। उत्पादन के वितरण को लेकर समाजवादी विचारक विभिन्न मतों का प्रतिपादन करते है। इस विषय में कुछ समाजवादी उत्पादकों को लाभ न उठाने [illegible] देने के पक्ष में भी हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वान इस बात का समर्थन करते हैं कि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। कुछ लोग समाजवाद लाने के लिए क्रान्तिकारी साधनों को अच्छा मानते हैं और कुछ शान्तिपूर्ण तरीकों का समर्थन करते है। कुछ विचारक समाजवाद के लिए लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली को अच्छा मानते हैं और कुछ श्रमिकों की तानाशाही का समर्थन करते हैं। इस प्रकार लोकतान्त्रिक समाजवाद राजनीति तथा आर्थिक साधनों का ऐसा सम्मिश्रण है कि विद्वान उसके सम्बन्ध में विभिन्न विचारधारायें बनाए बिना नहीं रह सकते।

कुछ लोग समाजवाद और साम्यवाद को पर्याय मानते है किन्तु मुख्य रूप से इसमें अन्तर है। कार्लमार्क्स ने समाजवाद को साम्यवाद की पहली सीढ़ी माना है।

4. लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य

लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य यह है कि श्रमिकों को, चाहे वे हाथ से काम करते हों और चाहे दिमाग से, उनके परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिल सके और समाज में धन का वितरण न्यायसंगत ढंग से हो जिससे सामान्य लोग भी सुख का जीवन बिता सकें और अपने व्यक्तित्व का पूरा पूरा विकास कर सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो और उनका प्रबन्ध अधिकाधिक लोकतान्त्रिक ढंग से किया जाए। भूमि, कल-कारखाने तथा सम्पूर्ण औद्योगिक सम्पदा, व्यापार आदि सभी का स्वामित्व और प्रशासन सम्पूर्ण समाज को सौंप दिया जाना चाहिए। कारण यह है कि अतीत में उत्पादन के साधनों पर जो एकाधिकार रहा है उससे सम्पत्ति धारण करने वाले वर्ग को ही लाभ हुआ है, औद्योगिक अनुसन्धानों ने उन्हीं को धनी बनाया है और मजदूर वर्ग को अपनी रोजी कमाने के लिए इसी वर्ग का सहारा लेना पड़ता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सम्पत्ति के स्वामित्व से जो सम्पत्ति छीनी जायगी उसका मुआवजा दिया जाना चाहिए अथवा नहीं कुछ लोकतान्त्रिक समाजवादी मुआवजा देने के पक्ष में हैं और कुछ उसका विरोध करते हैं। जो पक्ष में हैं उनका कहना है कि सम्पत्ति को जब्त करना नैतिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अनुचित है। [illegible] भी कहना है कि [illegible] व्यवसायों और सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिये। वर्तमान युग में लोकतान्त्रिक

समाजवादियों को प्रायः भय होने लगा है कि उत्पादन, वितरण, विनिमय आदि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करने में अर्थव्यवस्था के केन्द्रीयकृत होने का डर रहता है। इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचने की आशंका है। रूस आदि साम्यवादी देशों में यही हुआ है। अतः अन्तर्राष्ट्रीयकरण के स्थान पर सामाजीकरण के आदर्श का प्रतिपादन किया गया है।

5. लोकतांत्रिक समाजवाद का आर्थिक दृष्टिकोण

लोकतान्त्रिक समाजवादियों के आर्थिक विचारों में एकरूपता नहीं है। उनमें से जो उग्र हैं उन पर मार्क्सवाद की गहरी छाप है और वे वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था की उसी भाषा में आलोचना करते हैं जिसमें मार्क्स ने की है। इसके विपरीत, अनेक ऐसे हैं जो व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध होते हुए भी पूँजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स की व्याख्या को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

अधिकतर लोकतान्त्रिक समाजवादी मार्क्स के मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि मूल्य का उत्पादन केवल मजदूर नहीं करते बल्कि पूरा समाज करता है। पूँजीपति को जो लाभ होता है वह उसकी योग्यता अथवा कार्यकुशलता का परिणाम नहीं है बल्कि अनेक सामाजिक कारणों पर निर्भर होता है। किन्तु वे मार्क्स के इस सिद्धान्त से सहमत हैं कि पूँजीपति को पूँजी लगाने के कारण ही पूरा लाभ हड़प लेने का अधिकार नहीं है। वे मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को भी नहीं मानते। उनका कहना है कि वर्तमान उत्पादन तथा वितरण प्रणाली के अन्तर्गत स्वार्थों का जो संघर्ष है वह वास्तव में मजदूरों और कारखानेदारों के बीच नहीं है, बल्कि उस संघर्ष में एक ओर सम्पूर्ण समाज है और दूसरी ओर वे लोग हैं जो पूँजी लगाकर धनी हो जाते हैं। वे व्यक्ति अथवा वर्ग, जिनके हाथों में समाज की शक्ति है, सदैव ही उसका प्रयोग इस ढंग से करते हैं कि समाज के बहुसंख्यक सदस्यों को कठिनाई से जीवित रहने भर के लिए वेतन मिल पाता है जबकि शेष लाभ को पूँजी का स्वामी हड़प लेता है।

"जब साम्यवाद की स्थापना स्वतः हो जाती है तो राज्य जैसे तन्त्र के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। लोग स्वयं अपने ऊपर शासन करना सीख जाते हैं, इसलिए इनके ऊपर किसी राजनैतिक नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती। इससे पहले की व्यवस्था समाजवादी व्यवस्था कहलाती है जिसमें देश के उत्पादन और वितरण के साधनों पर समाज का नियन्त्रण हो जाता है और राज्य सर्वहारा वर्ग के हित में सारे साधनों का उपयोग करता है। इस प्रकार साम्यवाद की पहली सीढ़ी समाजवाद है।"

भारत मे जिस समाजवाद की परिकल्पना की गयी है, वह इसी भूमि की देन है। उसके आदिजनक आचार्य नरेन्द्र कहे जाते हैं, वैसे उसके वर्तमान स्वरूप मे भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्व पण्डित जवाहरलाल नेहरू और स्व डॉ सम्पूर्णानन्द आदि को कम श्रेय नहीं है। भारत म लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए कांग्रेस मे समाजवादी दल का निर्माण किया गया।

6. लोकतान्त्रिक समाजवाद का पोषक हमारा राष्ट्रीय संविधान

संविधान की प्रस्तावना म मूलत 4 उद्देश्य अन्तर्निहित किय गये हैं। पहला उद्देश्य नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करना है। दूसरा उद्देश्य विचार-अभिव्यक्ति विश्वास तथा उपासना की स्वतन्त्रता बताया गया है। इसे लोकतान्त्रिक धर्म निरपेक्षता का मूल आधार माना गया है। तीसरा उद्देश्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा और अवसर की समानता है। जो वस्तुत समाजवादी विचारधारा के अनुरूप है। प्रस्तावना मे अन्तर्निहित चौथा उद्देश्य व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुत्व की भावना है। संविधान (42 वा संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा संविधान की प्रस्तावना मे "धर्म निरपेक्ष" "समाजवादी" आदि शब्दों का जोडकर हमारे संविधान के मूल स्वरूप को और भी निखार दिया है। 'एकता और अखण्डता' की अभिव्यक्ति से समन्वयात्मक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

समाजवाद के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र परस्पर मित्रता एव भ्रातृत्व की भावना के साथ रहते है। यह शोषण तथा राजनैतिक दमन से मुक्त समाज है। इसमे मानववाद के महान आदर्श निरन्तर वास्तविकता मे बदल जाते हैं। प्रत्यक वर्ष तथा प्रत्येक पंचवर्षीय अवधि मे एक नया मील स्तम्भ, समाजवादी, मानववाद के समन्वित विकास की एक नई मंजिल होती है।

हमारे संविधान म कल्याणकारी राज्य के आदर्श समाहित किय गये हैं। संविधान मे मनुष्य द्वारा निर्मित कृत्रिम आवश्यकताओं को हटाने का अभियान प्रारम्भ करने की सविस्तार योजना उपलब्ध है। इस उद्देश्य हेतु समाज क पिछडे वर्गो एव पिछडी जातियो के उत्थान की व्यवस्था की गई है। श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुन्शी के शब्दो मे यह संविधान केवल भौतिक उन्नति और लोकतन्त्रीय व्यवस्था को बनाये रखने का साधन ही नहीं है, अपितु इस बात को मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व पवित्र है।

संविधान मे कार्य की मानवोचित दशाओं, मातृत्व कल्याण, उद्योगो मे श्रमिकों के शोषण पर रोक, निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करके समाज मे व्याप्त असमानताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया गया है। समान कार्य के लिए समान वेतन, भौतिक साधनो के स्वामित्व क इस प्रकार वितरण करे कि वह सबके लिए हितकारी हो, सम्पत्ति और उत्पादन के साधनो को इस प्रकार संग्रहित

परिश्रम और योग्यता के बल पर दूसरों से अधिक सम्पत्ति अर्जित करता है उसे अपनी सम्पत्ति को धारण करने, इच्छानुसार देने, बेचने और उपभोग करने का अधिकार होना चाहिये। समाजवाद परिश्रमी तथा योग्य व्यक्तियों की सम्पत्ति छीनकर उनसे प्रमादी, आलसी तथा अयोग्य लोगों का भरण-पोषण करना चाहता है। यह प्राकृतिक न्याय के विरुद्ध है। बहुमत की राय से अल्पमत की सम्पत्ति छीनना भी अनैतिक है।

आर्थिक दृष्टि से भी समाजवाद अनुपयुक्त है। पूंजीवादी व्यवस्था प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित है। यह उसकी सफलता का मुख्य कारण है। पूंजीपति अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए सस्ता तथा विविध प्रकार का माल तैयार करता है, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है माल को उत्तेजित करता है, उत्पादन का खर्च कम करने का प्रयत्न करता है और प्रविधि (टैक्नोलॉजी) की उन्नति का ध्यान रखता है। इससे उत्पादन बढ़ता है और राष्ट्र की उन्नति होती है। समाजवादी व्यवस्था में यह सब कुछ नहीं हो सकेगा और उत्पादन कम होगा तथा प्रगति रुकेगी।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विरुद्ध एक तर्क यह भी है कि समाजवाद में मनुष्य राज्य का गुलाम हो जायगा, उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी। समाज के सपूर्ण आर्थिक साधन राज्य के हाथों में होंगे और वह हर व्यक्ति को काम और वेतन देगा। व्यक्ति अपनी हर आवश्यकता की पूर्ति के लिए राज्य पर निर्भर रहेगा ऐसी स्थिति में उसके लिए राज्य का विरोध अथवा आलोचना करना असम्भव होगा।

साम्यवादियों का लोकतानिक समाजवाद के विरुद्ध तर्क यह है कि समाजवाद लोकतान्त्रिक तरीकों से न तो लाया जा सकता है और न उसे कायम रखा जा सकता है। पूंजीवादी इतने शक्तिशाली है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत वे समाजवादी आन्दोलन को कभी सफल नहीं होने देंगे।

8 उपसंहार

सविधान के सूक्ष्म एव सारगर्भित अध्ययन से यह तो प्रतीत होता है कि हमारे सविधान में मानवीय गुणों को उजागर करने एव लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में अभूतपूर्व प्रावधान किए गए है लेकिन क्या पिछले 34 वर्षों में हम इस दिशा में कुछ मार्ग तय कर पाए हैं? यह बड़ा विवादास्पद प्रश्न है। जो लोग राज्य-सत्ता की कुर्सी पर बैठे हैं, वे कहेंगे हमने अपनी मंजिल को प्राप्त करने की दिशा में बहुत कुछ रास्ता तय कर लिया है। हम मत छोड़िए, एक बार अपना वोट हमें दीजिए, हम सविधान में निर्धारित मंजिल तक आपको पहुंचा देंगे। विरोधी दल यह कहते हैं—आप हमें एक अवसर दीजिए और हम पर विश्वास कीजिए कि हम भारत को कहा से कहा तक ले जाते है। किसी लेखक ने यथार्थ ही कहा है कि यदि हमारा सविधान समाजवाद प्रतिष्ठापित करने की दिशा,

में आने वाली चुनौतियों को हल नहीं कर सकता तो हम यह नहीं कहेंगे कि संविधान पूर्णतया त्रुटिपूर्ण था, बल्कि यह कहेंगे कि लोग जिन पर संविधान को लागू करने का दायित्व था वे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए दिशाविहीन हो गये हैं। ऐसी स्थिति में हम सब पर यह समान दायित्व है कि अपने पूर्वाग्रहों को छोड़कर मानवता और समाजवाद के मार्ग पर प्रशस्त हों तथा शोषण की हर प्रवृत्ति का जीवन के प्रत्येक स्तर पर, जहां कहीं भी यह व्याप्त हो, मुकाबला करें। आइए लोकतांत्रिक समाजवाद के इस पवित्र आन्दोलन को साकार एवं सफल बनाने में हम सभी अपना योगदान दें ताकि हमारे संविधान को और अधिक गतिशील बनाया जा सके।

पर्यावरण संरक्षण

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. पर्वतीय क्षेत्रो मे पर्यावरण की समस्याए
3. वन्य जीवो का सरक्षण
4 औद्योगिक प्रदूषण
5 कृषि के क्षेत्र मे पर्यावरण सम्बन्धी समस्यायें
6. पर्यावरण-विषयक सुधार-समीक्षात्मक दृष्टिकोण
7 कतिपय सुझाव
8. उपसहार।

1. प्रारम्भिक

6 वर्ष पहले तत्कालीन पेट्रोलियम व रसायन मन्त्री श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा ने एक पत्रकार सम्मेलन म ताजमहल के प्रदूषण पर उठे सवालों का जवाब देते हुए आश्वासन दिया था कि सरकार इस सारे मामलो को बहुत बारीकी के साथ देखने जा रही है पर जरा हमे सास तो लेने दीजिये।

सन् 1970 से आज तक देश के पर्यावरण के महत्त्वपूर्ण विषयो पर इस दौर मे आयी तीनो सरकारो ने जिस तदर्थ शैली मे काम किया ताजमहल उसका सिर्फ एक उदाहरण है। पिछले दस वर्षों मे हरित क्रान्ति और औद्योगिक मोर्चे पर काफी उपलब्धियां हुई, लेकिन देश को इस विकास की काफी कीमत चुकानी पड रही है। एक राष्ट्रीय पर्यावरण नीति के अभाव मे, बिना सोचे-समझे किय गय विकास ने विनाश की नीव खोदी है तो कही विनाश के साफ-साफ चिन्ह छोडे है। पिछले दस वर्षों म देश के सभी बडे शहरो मे—कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास मे रहने, खाने पीने यहा तक कि सास लेने के मामलो मे भी प्रदूषण ने अपनी जगह बना ली है। औद्योगिक क्षेत्रो की हालत तो और भी बिगडी है। दुर्गापुर, कानपुर, आसनसोल, विशाखापट्टनम तथा चैंबूर (बम्बई) मे हवा-पानी के प्रदूषण की खबरे सन् 70 से ही मिलने लगी थी और सन् 1984 के आते-आते इन खबरो का आकार बढता ही चला गया।

2 पर्वतीय क्षेत्र मे पर्यावरण की समस्या

पर्वतीय क्षेत्रो मे दिन-प्रतिदिन काफी तादाद मे लकडी इत्यादि काट कर

उसका नफाग किया जा रहा है। हिमालय की गोद में पटसन के बाद पर्यटन उद्योग दूसरा प्रमुख उद्योग तथा विदेशी मुद्रा कमाने का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन गया है। नेपाल के पर्वतों के कारण पर्वतारोहण इस क्षेत्र का एक अनोखे प्रकार का पर्यटन बन गया है। ये पर्वतारोही ऊँचे पर्वतों पर वातावरण के प्रदूषण के लिये सीधे जिम्मेदार है। इसके अलावा पर्वतारोही रास्ते की बेकार चीजें छोड़ते हुए जाते हैं इससे नदी-नालों का पानी दूषित हो जाता है। इसके साथ साथ नेपाल के गरीब देहातियों के लिये जलाने की लकड़ी ही गर्मी और ऊर्जा का मुख्य साधन है जिससे वह पूरे वर्ष भोजन पकाता है और सर्दी से अपना बचाव करते हैं। लकड़ी के लिए पर्वतारोहियों की मांग बढ़ते रहने के कारण भी पेड़ों को तेजी से काटा जा रहा है। इस प्रकार बड़े पैमाने पर समाप्त होने वनों के कारण मिट्टी की बहुमूल्य ऊपरी परत नष्ट होती जाती है और इसके परिणाम स्वरूप मानसून के दिनों में आमतौर पर भू-कटाव होता रहता है।

निचली घाटियों में पेड़ों की अधिक कटाई के परिणामस्वरूप घने वन न होने से हिमालय के आकर्षक कस्तूरी-मृग, रेड पंडा, चीता तथा विभिन्न जातियों की पहाड़ी चिड़िया सब और ऊपर के जंगलों में चली गई हैं।

प्रदूषण व पर्यावरण सन्तुलन का बिगाड़ केवल घाटियों तक ही सीमित न रहकर उन मैदानी क्षेत्रों तक पहुँच गया है, जहां से हिमालय से निकलने वाली नदियां बहती हैं। उदाहरण के लिए भारत में गंगा के मैदान में पर्यावरण प्रदूषण के काफी बुरे परिणाम होंगे।

3. वन्य जीवों का संरक्षण :

पेड़ों के काटने से वन्य जीवन भरण की तलाश में गहरे जंगलों में दूर भागते जा रहे हैं। परन्तु जरा उन प्राणियों के भाग्य का भी अनुमान लगाइये जब सारे जंगल उजाड़ दिये जायेंगे। शिकारी लोग तो वन्य प्राणियों के लिए सीधा खतरा है। वर्तमान वन्य जीवन को मनुष्य के अविवेक के कारण ही प्रत्यक्ष नुकसान पहुँचता है।

हमें इस बात का आश्चर्य है कि किसी भी वन्य प्राणी की जाति के समाप्त होने से हम कैसे प्रभावित होते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य जितना सोचता है वह उससे कहीं अधिक वन्य-प्राणियों पर निर्भर है। रोजमर्रा के काम में आने वाली ऐसी बहुत सी चीजें है जो वन्य जीवों व पेड़ पौधों से ही प्राप्त होती है। हम तो बहुत सी बीमारियों के इलाज के लिए भी इन पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए, सांप का विष हृदय आदि के रोगों के उपचार में काम आता है तथा उनकी चमड़ी के भी विभिन्न उपयोग हैं। हाथी दांत के लालच में हाथियों का शिकार होता है।

वन्य जीवों का संरक्षण, वनों को काटने पर रोकथाम तथा वायु प्रदूषण दूर करने का लाभ केवल तभी हो सकता है जब कृषि क्षेत्र में कीटनाशक दवाओं के

हवा, पानी, धरती के प्रदूषण के बीच इधर दस वर्षों में 'शोर' भी एक नई बीमारी की तरह उभर आया है। शोर हमारे शरीर पर क्या खराब असर डाल सकता है, अभी इसका हमें ठीक अन्दाज ही नहीं हो पाया है। सन् 1970 से 1980 के बीच औसत शहरी शोर में 10 डिसिबल की वृद्धि हुई है।

वैज्ञानिक इन खतरों को समाप्त करने के लिए जोरशोर से प्रयास कर रहे हैं। इस दिशा में पहला प्रयास कीटनाशक दवाओं को अलग करने की तकनीक का विकास किया जाना है। दूसरी बात, ऐसी कीटनाशक दवाओं का विकास किया जा रहा है जिनका प्रभाव जहां आवश्यक होगा और इससे अन्य वस्तुएं प्रभावित नहीं होंगी। इन कदमों के बावजूद, किसानों को कीटनाशक दवाओं के अत्यधिक प्रयोग के कारण होने वाली हानियों की जानकारी देना बहुत आवश्यक है। लोगों को कीटनाशक दवाओं को समझदारी के साथ प्रयोग करने के बारे में जानकारी देने की भी आवश्यकता है।

6. पर्यावरण-विषयक सुधार-समीक्षात्मक दृष्टिकोण :

यों सन् 1970 से 1984 के बीच हमारे देश में पर्यावरण की रक्षा के लिए कड़े स्तरों पर पहली बार काम शुरू हुआ था। सन् 72 में स्टाकहोम सम्मेलन के बाद देश में इस विषय को राष्ट्रीय स्तर पर सामने लाने में स्वर्गीय पीताम्बर पंतजी ने पहल की। उन्हीं के प्रयासों से 'राष्ट्रीय पर्यावरण नियोजन और समन्वय समिति' का जन्म हुआ। राष्ट्रीय स्तर की इस एकमात्र समिति से प्रारम्भ में बहुत-सी उम्मीदें थीं पर ये प्रायः पूरी तरह से उभर नहीं सकीं। कुल मिलाकर इस समिति का चरित्र एक सलाहकार मण्डल से ऊपर नहीं जा पाया। समिति के बाद सन् 1974 में जल प्रदूषण निवारण और नियन्त्रण कानून बना। इसके तहत पहले केन्द्रीय जल प्रदूषण मण्डल बना और फिर धीरे-धीरे अन्य राज्यों में राज्य स्तरीय मण्डल गठित किये गये। यहां भी एक तो अधिकारों की कमी और तिस पर पूरे समय काम करने वाले कुशल लोगों का अभाव मण्डलों की क्षमता को बराबर पीछे खींचता रहा।

लेकिन जल प्रदूषण मण्डलों के गठन के बाद एक बड़ा फायदा यह हुआ कि देश की प्रमुख नदियों की हालत के बारे में समय-समय पर जानकारी तो सामने आने लगी। राज्यों की हद तक महाराष्ट्र और उड़ीसा ने अपनी नदियों की निग-रानी का काम सन् 1974 के कानून से काफी पहले शुरू कर दिया था। भारतीय मानक संस्थान और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी एकाध शिक्षण संस्था ने भी कानून बनने से पहले ही इस विषय को लोगों के सामने रखने का प्रयास किया था। केन्द्रीय जल प्रदूषण पर तथा देश के 142 बड़े शहरों में पीने के पानी की सप्लाई और गन्दे पानी की निकासी की खस्ता हालत पर बहुत अच्छी रिपोर्ट तैयार कर योजनाकारों के सामने रखी। बोर्ड ने खतरे की घण्टी तो बजायी पर यहां भी सवाल अमल का बना रहा।

इन दस वर्षों में नीरी (राष्ट्रीय पर्यावरण इंजीनियरिंग शोध संस्थान, नागपुर) ने देश के सभी प्रमुख शहरों और औद्योगिक क्षेत्रों में वायु प्रदूषण पर निगरानी रखी और समय समय पर बम्बई के चेंबूर, कलकत्ता, दिल्ली, आसनसोल, दुर्गापुरा, आगरा, कानपुर की चिंताजनक हालत को सामने रखा। नीरी की तरह ही लखनऊ के इंडस्ट्रीयल टाक्सीकलाजी रिसर्च सेंटर ने औद्योगिक क्षेत्र के भीतर और बाहर हो रहे प्रदूषित वातावरण के प्रति चेतावनी दी। इन प्रमुख शोध संस्थाओं के अलावा पिछले दस वर्षों म देश के कई मेडिकल कालजों और विश्वविद्यालय के दाटनी विभागों ने क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर प्रदूषण के मामलों को उठाया— पर यहां भी मुख्य सवाल अमल का रहा।

पर्यावरण से सम्बन्धित कुछ इनी-गिनी सरकारी संस्थाओं, स्वायत्त शोध संस्थाओं के अलावा पिछले दस वर्षों में देश के छोटे-बड़े शहरों से लेकर दूरस्थ गावों में आम लोगों के छोटे-छोटे संगठन भी खड़े हुए हैं। ये प्राय उन लोगों के हैं जिनके लिए पर्यावरण एक विषय नहीं है, फैशन नहीं बल्कि जीवन मरण का सवाल है और इसीलिए इस बिगड़ते पर्यावरण ने जहां-जहां लोगों की जिंदगी पर हमला किया है वहां-वहां लोगों ने इस परिस्थिति को जन्म देने वाले कारणों से, उससे जुड़े विभागों या प्रतीकों से लड़ाई छेड़ी है। और ये संगठन ही वास्तव में आशा की किरणें हैं।

सन् 1973 म उ. प्र के चमोली जिले में ठेठ देहाती औरतों आदमियों ने वन सुरक्षा के लिए चिपको आन्दोलन शुरू किया। आज यह कई हिस्सों में अलग अलग रूपों में फैलता जा रहा है। कहीं-कहीं तो चिपको शब्द म इतनी ताकत रही कि आन्दोलनकारियों ने पेडों से चिपके बिना ही जगल को बचा लिया। रचना संघर्ष और समन्वय को साथ लेकर चले इस आन्दोलन का व्यापक असर हुआ है और यह अपने क्षेत्र और प्रदेश की सीमाएं भी लाघ चुका है। केरल म साइलेंट वैली के विरुद्ध भी जो आवाज उठी उसमें स्थानीय स्तर से लेकर देश के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने साथ दिया। केरल शास्त्र साहित्य परिसद् जैसे वैज्ञानिक सगठन इस मामले में आगे आये। इन वैज्ञानिक सगठनों ने साधारण लोगों के साथ अपने को जोड़ा और उन्हे प्रकृति की परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी असाधारण व्यवस्था की जानकारी दी।

7. कतिपय सुझाव :

पर्यावरण के मोर्चे पर अगले दशक में हम क्या नया कर पा सकेंगे, यह दरअसल लोगों के ऐसे ही सगठनों की ताकतों पर निर्भर करेगा। कानून बनें या अटके रहे लोग चेत गये तो चीजें सुधरेंगी ही। प्रदूषण की चाबी भी इन्हीं गैरसरकारी छोटे-छोटे सगठनों के हाथ म रहेगी।

गांधीजी ने प्रकृति के साथ पूरी तरह से एकात्मक जीवन शैली की वकालत की थी। आज जो समस्यायें सामने आ रही है, वे प्रकृति के विरुद्ध जाने की, सहज क्षमा क्षमता से अधिक उसे दूहने का नतीजा नहीं तो और क्या है ? इस प्रकृति के

राष्ट्र भाषा हिन्दी : वर्तमान स्थिति, समस्याएँ एवं समाधान

सामान्य अवलोकन

1 प्रारम्भिक —

भारत जैसे विशाल देशो मे अनेक जातियो धर्मों तथा भाषाओ का जानने, मानने वाले लोग रहते हैं। इस देश म सैकडो भाषा और बोलियां का प्रचार है। हम रे सविधान म इस देश की प्रमुख 15 भाषाओ को मान्यता दी गई है। इन 15 भाषाओ के अलावा राजस्थानी, भोजपुरी, मुण्डा ब्रज भाषा आदि भाषा बोलियो को करोडो भारतीय बोलते है। भाषाओ की इस विविधता के कारण की भारत म सर्व स्वीकृत राष्ट्र भाषा की समस्या एक जटिल समस्या हो गई है।

राष्ट्र-ध्वज राष्ट्र मुद्रा तथा राष्ट्र-गान की भांति राष्ट्रभाषा भी प्र त्येक देश के गौरव एव उनकी अस्मिता की प्रतीक होती है। आरम्भ [illegible] तक, राजा राममोहन राय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि स्वन एक स्वर म स्वीकार किया है कि हमारे देश की भाषा हिन्दी है और वही हमारे राज काज, शिक्षा-दीक्षा, नित्य व्यवहार की भाषा हो सकती है।

2 राष्ट्र भाषा के रूप मे हिन्दी की वर्तमान स्थिति एव सर्वेक्षण

जनसख्या जनमत, जनभावना, भाषा सामर्थ्य राष्ट्रीय आवश्यकता आदि समस्त दृष्टियो से विचार करने के उपरान्त हमारे सविधान निर्माताओ ने [illegible] 1950 के गणतन्त्र दिवस पर यह घोषित किया कि हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा है।

भारत म हिन्दी का प्रचार-प्रसार अधिक है और लगभग 40% नागरिक हिन्दी का प्रयोग करते हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय हिन्दी इस प्रमुखता

को सबने स्वीकार किया था। महात्मा गांधी ने हिन्दी के प्रचार को राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन का एक अंग माना था। दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार करने के लिए उन्होंने दक्षिणी भारत हिन्दी प्रचार-सभा की स्थापना की थी। आजादी से पहले जब विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें बनी तो उन्होंने हिन्दी भाषा के प्रचार का यत्न भी किया। हिन्दी भाषा देश के सारे भागों में, विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में भली प्रकार समझी जाती है। हिन्दी फिल्मों का सारे देश में जो प्रचार है और उन्हें जो लोकप्रियता प्राप्त है उससे यह सहज सिद्ध होता है।

हिन्दी भारत में मध्य देश की भाषा है। प्राचीनकाल से ही मध्य देश भारत में धर्म तथा संस्कृति का केन्द्र रहा है, अतः इस प्रदेश की भाषा का सहज रूप से सारे देश में प्रचार होता है। हिन्दी को इस स्थिति का लाभ मिला है कि मध्य-काल से ही हिन्दी का सारे देश में प्रचार रहा है। पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल के सन्त तथा भक्त कवियों ने अपनी-अपनी भाषाओं के साथ हिन्दी में भी काव्य रचना की है। आधुनिक काल में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में अहिन्दी प्रान्तों के नेताओं ने भी हिन्दी की प्रमुखता को स्वीकार किया। इस कारण ही हमारे संविधान निर्माताओं ने सर्वसम्मति से हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र भाषा बनाने का निर्णय किया था।

सरकारी कामकाज की भाषा न होने के कारण आरम्भ में हिन्दी प्रशासनिक शब्दावली का अभाव था। फिर तत्काल अंग्रेजी के स्थान पर सारे सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग भी सम्भव नहीं था। इसलिए संविधान निर्माताओं ने यह निश्चय किया था कि संविधान के लागू होने के 15 वर्ष अर्थात् 1965 ई. तक अंग्रेजी ही शासकीय कार्य भाषा बनी रहेगी और इस बीच हिन्दी के विकास का प्रयत्न किया जाएगा। किन्तु इसके बाद राष्ट्र भाषा का प्रश्न धीरे-धीरे राजनीति के विवाद में उलझता गया। 1965 ई. से पहले ही राष्ट्रभाषा विधेयक में यह संशोधन कर दिया गया कि हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा तो होगी किन्तु जब तक भारत की सभी राज्य सरकारें सहमत न हों, तब तक अंग्रेजी में ही काम चलता रहेगा। वर्तमान में भी यही स्थिति है।

राजनीतिक स्वार्थता का चक्र ऐसा चल रहा है कि लगभग 34 वर्ष पूरे हो जाने पर भी संविधान में स्वीकृत उपर्युक्त 15 वर्ष पूरे होने में नहीं आ रहे हैं। हिन्दी के विरोध में अनेक नारों के मध्य सबसे प्रचल नारा है हिन्दी के साम्राज्य-वाद का। यह आवाज दक्षिणी भारत तथा बंगाल से उस समय उठाई गयी थी जब भारत को भाषाधार राज्यों में विभक्त करने की योजना लागू की जा रही थी, आश्चर्य यह देखकर होता है कि हिन्दी के नाम पर लोग भाषा की गुलामी की बात करते हैं, परन्तु अंग्रेजी की प्रभुता के कारण किसी को किसी प्रकार के संकट की आशंका नहीं होती है।

3. हिन्दी भाषा के विकास मे बाधक तत्व . –

हिन्दी देश के कोने-कोने मे समझी और बोली जाती है। वह स्वय सिद्ध राष्ट्र भाषा है। समस्या है उसको राजभाषा बनाने की। इसके विरोध मे मूल तर्क यह है कि यदि हिन्दी राज भाषा बन जाती है तो सरकारी नौकरियो म हिन्दी भाषा-भाषी राज्यो के लोगो को वरीयता मिल सकेगी तथा नौकरी करने म उन्हे विशेष सुविधा होगी। इसके साथ मुख्य तर्क यह भी दिया जाता है कि हिन्दी मे सरकारी काम काज सम्बन्धी तथा तकनीकी पारिभाषिक शब्दो का अभाव है। कुछ लोग साहित्य सम्पन्नता की दृष्टि से विरोध करने के लिये हिन्दी के साहित्य को हेय बताने लग जाते हैं।

दक्षिण भारत म विशेष रूप से तमिलनाडु मे हिन्दी का विरोध एक राजनीति का प्रश्न बन गया है। वे अनिश्चित काल तक देश मे अ ग्रेजी को बनाये रखना चाहते हैं। वहा के प्रमुख राजनैतिक दल हिन्दी विरोध के नाम पर अपनी राजनीति चलाते है। सीमित राजनैतिक स्वार्थ के कारण उनमे राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना भी नष्ट हो गई है। तमिलनाडु के भाषा सम्बन्धी सकीर्णतावाद से लडने का साहस वहा के राजनेताओ मे नही रहा है।

अ ग्रेजी का भक्त नौकरशाह वर्ग भी हिन्दी का बहुत विरोधी है। वह निरन्तर हिन्दी के पिछडा होने की बात दोहराता रहता है। हिन्दी जन भाषा है। यदि सरकारी कामकाज मे जन-भाषा का प्रयोग होने लगे तो उनकी विशेष स्थिति समाप्त होने का भय उत्पन्न हो जाता है। अ ग्रेजी के माध्यम से राजनैतिक एव प्रशासनिक सत्ता कुछ थोडे से लोगो के हाथो मे सीमित रहती है।

हिन्दी के उग्र समर्थक भी राष्ट्र भाषा के रूप मे हिन्दी की मान्यता मे बाधा उत्पन्न करते हैं। वे हिन्दी को सस्कृत प्रधान बनाकर कठिन बना देना चाहते हैं जिससे हिन्दी जन साधारण की समझ से बाहर की भाषा हो जाती है। भारत की अन्य भाषाओ के सम्मान का ध्यान भी वे नही रखते है। भारत म सिर्फ हिन्दी को ही मान्यता नही मिल सकती है। बगला, मराठी, तमिल आदि भी भारत की विकसित भाषाएं है। हिन्दी की उन्नति इन सब भाषाओं के साथ ही हो सकती है। हिन्दी को किसी अन्य भारतीय भाषाओ के अधिकारो को कम नही करना चाहिए।

4. राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय स्वाभिमान

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान का प्रश्न है। विश्व मे भारत के अलावा कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसने किसी विदेशी भाषा को राष्ट्र भाषा का दर्जा दिया हो। चाहे जापान जैसा छोटा देश हो अथवा सोवियत रूस जैसा विशाल देश, सभी देशो ने अपनी स्वदेशी भाषाओ के माध्यम से तरक्की की है। राष्ट्र भाषा के सवाल को इसी दृष्टि से हल किया जाना चाहिये। विश्व म अ ग्रेजी की तुलना मे कितनी ही भाषाएँ कम विकसित हैं किन्तु उन्होने अ ग्रेजी को राज-भाषा नही

बनाया है। अंग्रेजी को राज-भाषा बनाने का मतलब यह है हम अभी तक पूरी तरह आजाद नहीं हो पाये हैं। राजनैतिक रूप से आजाद होने के पश्चात् भी भाषा के स्तर पर हम गुलाम हैं।

भारत में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था अपनायी गयी है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए यह जरूरी है कि नागरिक सरकार के कामों में अधिक से अधिक भाग लें, सहयोग करें। इस दृष्टि से यह जरूरी है कि सरकार की भाषा अधिकांश जनता की भाषा हो। अंग्रेजी भारत की जनता की भाषा नहीं है और आगे कभी हो भी नहीं सकती है। हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में पूरी तरह स्थापित करने से जनता तथा सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा। अभी तो थोड़े से अंग्रेजी जानने वाले अधिकारी जनता तथा सरकार के बीच में बाधा बने हुए हैं। भारत में प्रजातन्त्र की सफलता के लिए और देश की शीघ्र उन्नति के लिए स्वदेशी भाषा हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में पूरी तरह से शीघ्र स्थापित किया जाना चाहिये। राष्ट्र भाषा का सवाल देश के स्वाभिमान और स्वाधीनता का सवाल है। इस समस्या को इस दृष्टि से ही हल किया जाना चाहिये।

5. हिन्दी में विधि साहित्य का सर्जन :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 द्वारा हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित कर दिया गया है। बड़े मनोयोग से केन्द्र द्वारा विधि की हिन्दी शब्दावली को मानक रूप दिया जाने लगा।

विधि साहित्य प्रकाशन, विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय (विधायी विभाग) भारत सरकार की ओर से उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका क्रमशः अप्रैल, 1968 एवं जनवरी 1969 से प्रकाशित किए जा रहे हैं, जिसमें उक्त न्यायालयों के महत्वपूर्ण निर्णयों का संकलन किया गया है। यह भारत सरकार का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। हिन्दी भाषा में विधि विषयक प्रकाशनों से हमारी राष्ट्र भाषा का प्रयोग विधि-जगत में दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह पर्याप्त सन्तोष का विषय है।

भारत सरकार का विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। लगभग सभी केन्द्रीय अधिनियमों का हिन्दी में राष्ट्रपति द्वारा प्राधिकृत अनुवाद इस मंत्रालय द्वारा प्रकाशित कर दिया गया है तथा विधि के अनेक मानक ग्रन्थ प्रकाशित किए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त विधि के विभिन्न विषयों पर लिखी गई मौलिक पुस्तकों के लेखकों को प्रतिवर्ष पुरस्कृत कर प्रोत्साहित करने की इस मंत्रालय की योजना सर्वाधिक प्रभावी सिद्ध होने वाली है।

यह सदा स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि किसी भी भाषा का निर्माण और विकास राज्य द्वारा नहीं, उस भाषा के विद्वानों द्वारा होता है। विधि-क्षेत्र में कार्य कर रहे विद्वानों को राज्य द्वारा प्रोत्साहित और सम्मानित करना स्वस्थ और

उपयोगी परम्परा है, केवल राज्यामुखापेक्षी होने से इस दिशा म बहुत अधिक कार्य नहीं हो सकता। राज्य के सरक्षण से निरपेक्ष विद्वानो और प्रकाशको का निष्ठापूर्ण प्रय म वाछित प्रगति के लिए आवश्यक है।

6 समाधान

हिन्दी के सर्वांगीण विकास तथा राष्ट्र भाषा को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने हेतु विषय स लिप्त समस्याओ के समाधान की नितान्त आवश्यकता है। लेकिन कौनस साधन अथवा समाधान प्रयुक्त म लाये जाए जिससे यह सपना साकार रूप म भारत की धरती पर अवतरित हो जाए। प्रथम, अन्य पुस्तको के अनुवाद के माध्यम म हिन्दी के साहित्य को समृद्ध बनाया जाना चाहिए। विभिन विद्वानो द्वारा लिखित विभिन भाषाओ विशेष रूप म अ ग्रेजी का सार रूप म लिखित पुस्तको का हिन्दी म अनुवाद होना नितान्त आवश्यक है। ज्ञान, विज्ञान, कृषि चिकित्सा एव टेक्नोलोजी की पुस्तको का जो हिन्दी म अभाव है उस अविलम्ब पूरा किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालय स्तर के विद्वानो का शोध-ग्रन्थो का हिन्दी म सक्षिप्तीकरण प्रस्तुत करना चाहिए ताकि सामान्य जन उसके कुछ अ शो को समझने तथा जानने मे समर्थ हो सके।

पाठ्यक्रम आधुनिक धरातल पर आधारित होना चाहिए। अत पाठ्यक्रम म समयानुकूल परिवर्तन की आवश्यकता है। हिन्दी के अध्यापन स्तर पर सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। छात्रो म मौलिक विवेचन की भावना को सृजित किया जाना चाहिए।

हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए हिन्दी म साहित्य सृजन के अतिरिक्त उसको लोकप्रिय एव व्यवहारिक बनाने की आवश्यकता अधिक है। इसके लिए दो सुझाव दिए जा सकते है। हिन्दी प्रेमी अपना प्रत्येक काम हिन्दी म ही करें तथा लोकप्रिय तथा प्रचलित शब्दो को ज्यो का त्यो ग्रहण करें। यदि आवश्यकता हो तो अ ग्रेजी के शब्दो को भी ज्यो का त्यो ग्रहण किया जाए। हिन्दी के वर्तमान म प्रचलित शब्दो म लगभग 50 प्रतिशत शब्द सस्कृत भाषा, अरबी, फारसी, अ ग्रेजी, तुर्की, फ्रासीसी आदि भाषाओ पर आधारित है।

7 उपसहार

हिन्दी भाषा के भविष्य और भारत म राष्ट्रभाषा के रूप मे व्यापक प्रसार के विषय म जिन्हे शका अथवा सदेह है, उनसे हम सहमत नहीं है। हिन्दी भाषी राज्यो मे तो देर-सवेरे हिन्दी को प्रतिष्ठापूर्ण स्थान मिलेगा ही तमिल, कन्नड, केरल आदि प्रदेशो म भी स्थिति उतनी विपरीत नहीं है जैसी समझी जाती है। मतदाताओ पर प्रभाव डालने के लिए जो दुष्प्रचार किए जा रहे हैं, उसके होते हुए भी उन राज्यो की भावी पीढी हिन्दी मनोयोग से सीख रही है। राष्ट्रीय दौड म वह पीछे नहा रहना चाहती। वस्तुत यह पीढी हिन्दी-क्षेत्रो के लोगो की अपेक्षा

अधिक स्वच्छ तथा मानक हिन्दी लिखती है। हिन्दी-भाषी राज्यों में भारतीय प्रशासनिक सेवा के कुछ अधिकारी हिन्दी-भाषा के प्रयोग में बाधक बनने का प्रयास करते भी रहे हैं, तथापि इस विषय में विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसे आधा दर्जन अधिकारी भी नहीं हैं जो हिन्दी का उपयोग न करते हों। मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में हिन्दी को उच्च न्यायालय में भी स्थान देने का प्रयास किया गया है। राजस्थान में भी बहुत सराहनीय कार्य हुआ है।

हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रमुख उत्तरदायित्व हिन्दी भाषियों पर है, वे यदि अपने समस्त पत्र, साइनबोर्ड आदि हिन्दी में ही लिखने लगें तो भारत में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हिन्दी का प्रयोग करने के लिए विवश होना पड़ेगा। हमें समझ लेना चाहिये तथा समझा देना चाहिये कि राजभाषा के रूप में हिन्दी केवल अंग्रेजी का स्थान लेना चाहती है। प्रादेशिक भाषाओं से उसका कोई विरोध नहीं है।

स्वतन्त्रता संग्राम के संदर्भ में हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न था। आज यह प्रश्न राष्ट्र के स्वाभिमान के अतिरिक्त राष्ट्रीय अस्मिता का भी प्रश्न बन गया है। चाहिये यह कि राजभाषा के रूप के हिन्दी केवल अंग्रेजी को हटाना चाहती है, क्षेत्रीय अथवा विभिन्न राज्यों की भावनाओं से उसका विरोध हो ही क्या सकता है? प्रत्येक राज्य अपने राज्य की भाषा के प्रयोग में स्वतन्त्र है। साथ ही प्रतियोगिताओं में चाहे जिस भारतीय भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। केवल केन्द्रीय सरकार के कामकाज के लिये हिन्दी की आवश्यकता पड़ेगी।

अन्तरिक्ष विज्ञान और भारत

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2 अन्तरिक्ष विज्ञान का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
3. भारत मे अन्तरिक्ष विज्ञान का आरम्भ
4. अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र मे भारत सोवियत सहयोग
5 अन्तरिक्ष विज्ञान मे भारत की उपलब्धिया
6. 'व्योम पुत्र' राकेश शर्मा की अन्तरिक्ष यात्रा
7. उपसहार

1. प्रारम्भिक :

आधुनिक युग म विज्ञान ने अभूतपूर्व उन्नति की है और अनेक एस चमत्कारिक आविष्कार किये हैं, जो बीसवी शताब्दी से पहले पूरी तरह अविश्वसनीय माने जात थे। आधुनिक विज्ञान ने जिन विभिन क्षेत्रो मे अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक उन्नति की है, उनम अन्तरिक्ष विज्ञान प्रमुख है। बीसवी सदी के आरम्भ म उस समय मनुष्य द्वारा निर्मिन यन्त्रो ने आकाश मे उडना आरम्भ किया, जबकि दिसम्बर 1903 ई मे राइट बन्धुओ ने अपना हवाई जहाज पहली बार आकाश म उडाया। पृथ्वी की सीमा से बाहर अन्तरिक्ष मे मनुष्य द्वारा निर्मित उपग्रह ने 4 अक्टूबर 1957 ई. को पहली उडान भरी। तब से, 25-26 वर्ष के थोडे से समय म इस क्षेत्र म मानव जाति ने जो महान कदम उठाये वे नितान्त आश्चर्यजनक है। मनुष्य द्वारा निर्मित यान अनेक बार चन्द्रमा की धरती पर उतर चुके हैं और वहा से मिट्टी व चट्टानो के नमूने पृथ्वी पर लाये जा चुके है। मनुष्य के यान मगल और शुक्र की धरती पर भी उतर चुके है। यही नही, अब तो मनुष्य के यान सम्पूर्ण सौरमण्डल को पार करके अनन्त ब्रह्माण्ड की यात्रा भी कर रहे है।

2 अन्तरिक्ष विज्ञान का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

बाबा आदम के जमाने की प्रचलित यह उक्ति सहसा याद आती है कि आकाश पृथ्वी से इतना सटा हुआ था कि पृथ्वी के समस्त उपादान उसे अपनी अभिवृद्धि मे बाधक मानो थे। मानव को ही ले लीजिए—यदि वह लम्बा हो गया तो बेचारे की आफत हो जाती, ऐसी दत कथाएँ लोकप्रिय हैं। आधुनिक सन्दर्भ में यह

उक्ति सत्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि आज अन्तरिक्ष की लोकप्रियता अभिशाप से विहीन नहीं, वरन् वरदान रूप में स्वयं सिद्ध है।

12 अप्रैल, 1961 ई. को मनुष्य ने अन्तरिक्ष में पहली बार कदम रखा। यह महान् श्रेय सोवियत संघ के यूरी गागरिन को मिला। 1969 ई. में अमेरिका के नागरिक नील आर्मस्ट्रांग ने चन्द्रमा की धरती पर कदम रखा। उसके बाद अनेक अमेरीकी नागरिकों ने चन्द्रमा की यात्रा की। सोवियत अन्तरिक्ष यात्री आकाश में एक साथ दो सौ दिन से भी अधिक निवास करने का कीर्तिमान बना चुके हैं। वह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य चन्द्रमा से आगे बढ़कर अन्य ग्रहों की यात्रा भी करने लगेगा।

3. भारत में अन्तरिक्ष विज्ञान का प्रारम्भ :

आधुनिक सदर्भो में भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम का इतिहास लगभग 20 वर्ष पुराना है। भारत में अन्तरिक्ष अनुसंधान के विकास का कार्य परमाणु ऊर्जा विभाग को 1961 में सौंपा गया था। डॉ. विक्रम साराभाई ने त्रिवेन्द्रम में एक उपग्रह प्रणाली की स्थापना की और प्रो. यू. आर. राव को इसका अध्यक्ष बनाया। उस समय मौसम विज्ञान ब्रह्माण्ड किरणों, खगोल विद्या तथा भूविज्ञान के वैज्ञानिकों ने अन्तरिक्ष अनुसंधान में बहुत दिलचस्पी दिखाई थी। 1962-63 में थुम्बा राकेट केन्द्र प्रारम्भ किया गया और यहाँ से ऊपरी वायुमण्डल के अध्ययन के लिए अनेक राकेट छोड़े गये। अहमदाबाद में एक प्रयोगात्मक उपग्रह संचार भूकेन्द्र 1967 में स्थापित किया गया। भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन ने 1972 में स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त किया। 19 मई 1972 को भारत ने सोवियत संघ से एक समझौता किया, जिसके अनुसार भारत एक उपग्रह बनायेगा और सोवियत संघ उसे प्रक्षेपित करेगा। आन्ध्र-प्रदेश में समुद्र तट पर श्री हरिकोटा में राकेट छोड़ने की सुविधाओं का विस्तार किया गया। 1972 में एक अन्तरिक्ष प्रायोग की स्थापना हुई, 1973 में त्रिवेन्द्रम में राकेट ईंधन कारखाने की स्थापना की गई। इस ईंधन से राकेट छोड़ने के परीक्षण श्री हरिकोटा में सफल रहे। प्रथम रोहिणी 5601 राकेट छोड़ा गया। तब से देश में अनेक महत्वपूर्ण अन्तरिक्ष अनुसंधान किए गए हैं।

4. अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत सोवियत सहयोग

आधुनिक भारत के निर्माण में सोवियत संघ का सहयोग बहुत अधिक रहा है, पैट्रोल, तेल, स्टील के कारखाने, भारी मशीन निर्माण, बिजली के भारी सामान, तेल-शोधन आदि अनेक क्षेत्रों में सोवियत संघ ने हमें मूल्यवान सहायता दी है। अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भी सोवियत संघ का सहयोग बहुत मूल्यवान रहा है।

भारत का पहला उपग्रह 19 अप्रैल 1975 ई. को सोवियत संघ की सहायता से बैकानूर नामक अन्तरिक्ष केन्द्र से 860 किलोग्राम भार का यह उपग्रह सोवियत राकेटों के द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचा। यह सौर ऊर्जा से संचालित था।

इस उपग्रह का निर्माण भारतीय वैज्ञानिको ने किया था। तब तक भारतीय वैज्ञानिक शक्तिशाली रॉकेट का विकास नही कर पाये थे अत. इसे शक्तिशाली सोवियत रॉकेटो के द्वारा अन्तरिक्ष मे भेजा गया था। 4 वर्ष बाद 7 जून, 1979 ई. को भारत का दूसरा उपग्रह 'भास्कर प्रथम' भी सोवियत-सघ के सहयोग से अन्तरिक्ष मे भेजा गया, जो 444 किलोग्राम भार था। यह बैंगलोर स्थित उपग्रह निर्माण केन्द्र मे तैयार किया गया था। 20 नवम्बर, 1981 ई. को सोवियत-सघ के सहयोग से एक और उपग्रह 'भास्कर द्वितीय' अन्तरिक्ष मे भेजा गया। 3 अप्रेल, 1984 को भारत के श्री राकेश शर्मा ने अन्तरिक्ष मे जो अद्वितीय यात्रा की है उसका श्रेय सोवियत रूस को ही है।

5. अन्तरिक्ष विज्ञान मे भारत की उपलब्धिया

भारतीय अन्तरिक्ष विज्ञान निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता जा रहा है। अब तक की उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धिया इस प्रकार है—

(1) **आर्य भट्ट**—19 अप्रेल 1975 को भारत ने अपना प्रथम उपग्रह 'आर्यभट्ट' सोवियत सघ के सहयोग से अन्तरिक्ष मे प्रक्षेपित किया, जिसका वजन 300 किलोग्राम था। यह उपग्रह 3 साल से अधिक कक्षा मे रहा। इससे अधिक जटिल उपग्रह बनाने मे सफलता मिली।

(2) **भास्कर (प्रथम)**—दूसरा भारतीय उपग्रह 'भास्कर' 7 जून, 1979 को सोवियत भूमि से प्रक्षेपित किया गया जिसका वजन 430 किलोग्राम था। 16 मई 1980 को इसने बगाल की खाडी के ऊपर से गुजरकर उस पर छाये बरसाती बादलो के चित्र खीचे और उनको श्री हरिकोटा, बगलौर एव अहमदाबाद के भू-केन्द्रो को सफलतापूर्वक प्रसारित किया।

(3) **एस. एल. वी. 3 और रोहणी उपग्रह**—परन्तु भारतीय अन्तरिक्ष विज्ञान तथा तकनीकी को 18 जुलाई 1980 को तब ऐतिहासिक सफलता मिली जब भारतीय वैज्ञानिको तथा इजीनियरो ने अपनी प्रयोगशालाओ मे निर्मित रॉकेट एस. एल. वी. 3 तथा 36 किलोग्राम के वजन के एक रोहिणी उपग्रह को पृथ्वी की कक्षा मे स्थापित किया। यह देश के विज्ञान के लिए महानतम उपलब्धि का दिन था। भारत ने अब अपना स्थान उन इने-गिने देशो की पक्ति मे जा खडा किया है जिन्होंने पहले अपने उपग्रह प्रक्षेपण वाहनो से उपग्रहो को पृथ्वी की कक्षा मे स्थापित किया है। वे देश है सोवियत सघ, अमेरिका, फ्रान, चीन और जापान।

(4) **भास्कर द्वितीय**—20 नवम्बर 1981 ई. को सोवियत-सघ के सहयोग से एक और उपग्रह (भास्कर-द्वितीय) अन्तरिक्ष मे भेजा गया। इस उपग्रह मे दो टेलीविजन कैमरे और एक तीन फ्रीक्वेन्सी माइक्रोवेव रेडियो मीटर लगा हुआ हैं। ये कैमरे 340 किलोमीटर क्षेत्र के चित्र-खीच सकते है कुल मिलाकर इस उपग्रह ने 1000 से अधिक चित्र सफलतापूर्वक भेजे है।

21 मई, 1982 ई. को सोवियत-संघ के साथ एक और उपग्रह भेजने के लिए समझौता किया गया है। इस समझौते के अनुसार 800 किलोग्राम भार का एक और भारतीय उपग्रह 1985-86 में अन्तरिक्ष में भेजा जायेगा। अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र मे भारत की एक और सफलता 'एपिल' नामक उपग्रह का निर्माण है। यह उपग्रह भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा ही बनाया गया है। 19 जून, 1981 ई. को 'एपिल' को यूरोपिय स्पेस एजेन्सी के रॉकेट की सहायता से अन्तरिक्ष मे भेजा गया। यह मुख्य रूप से संचार उपग्रह है। 15 अगस्त, 1981 को इस उपग्रह के माध्यम से सफलतापूर्वक टेलीविजन के कार्यक्रम प्रसारित किये गये।

आजकल संचार-सेवाओं के विकास में उपग्रहों का विशेष रूप से प्रयोग किया जा रहा है। विकसित देशों ने अन्तरिक्ष मे अपने अपने संचार उपग्रह स्थापित कर रखे है। भारत ने भी इस क्षेत्र मे कार्य आरम्भ किया है। 'एपिल' उपग्रह इस दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम था। 'इन्सेट-प्रथम ए' इस दिशा मे दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम था। 10 अप्रेल, 1982 ई. को 'इन्सेट प्रथम ए' को अन्तरिक्ष में भेजा गया। यह आशा की गई थी की यह उपग्रह 7 वर्ष तक काम करता रहेगा किन्तु दुर्भाग्य से कुछ समय बाद ही इस उपग्रह ने काम करना बन्द कर दिया। भारत मे रंगीन टेलीविजन का प्रसारण इस उपग्रह के माध्यम से ही आरम्भ हुआ।

भारत के नवीनतम उपग्रह का नाम 'इन्सेट प्रथम बी' है। अमेरिका के स्पेस शटलयान चैलेन्जर द्वारा इसे 30 अगस्त 1983 ई. को अन्तरिक्ष में भेजा गया है।

6. 'व्योम-पुत्र' राकेश शर्मा की अंतरिक्ष यात्रा—

राकेश शर्मा भारत के पहले और विश्व के 138 वें अन्तरिक्ष यात्री बन गये हैं। भारत संसार का 14 वां देश है, जिसका एक नागरिक अन्तरिक्ष की यात्रा करके लौटा है।

राकेश का जन्म 13 जनवरी, 1949 को पटियाला मे हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा हैदराबाद में हुई। वहां के निजाम कालेज से 1966 मे स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद राकेश ने खड़क वासला की राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अकादमी मे वायु सेना-छात्र के रूप में प्रवेश लिया। 1970 मे उन्हें कमीशन मिला। अन्तरिक्ष यात्रा के प्रशिक्षण के लिए चुने जाने के पहले राकेश शर्मा बंगलौर के 'एयरक्राफ्ट एंड सिस्टम्स डिजाइन एस्टेब्लिशमेण्ट में टेस्ट-पायलट थे। उन्हें मिग, कैनबेरा, हण्टर किरण, अजीत आदि लड़ाकू विमान उड़ाने का अच्छा अनुभव है। राकेश शर्मा ने 1971 के भारत-पाक युद्ध में भाग लिया था और मिग 21 विमान मे 21 उड़ानें भरी थीं। आमतौर पर कुशल विमान-चालकों को ही अन्तरिक्ष यात्रा के प्रशिक्षण के लिए चुना जाता है।

बैकानूर के अन्तरिक्ष अड्डे मे 300 टन भार का शक्तिशाली रॉकेट 3 अप्रेल

1984 को सायकाल 6 बजकर 38 मिनट पर ऊपर उठा। इसके सिरे पर सोयूज 11 अन्तरिक्ष-यान स्थापित था। और राकेश शर्मा तथा उनके दो सोवियत सहयात्री इस यान मे बैठे हुए थे।

रॉकेट 119 सैकण्ड बाद 40 किलोमीटर ऊपर पहुँचा तो इसके पहले खण्ड के चारो भाग अलग हो गये। दूसरे भाग के इ जन ने 278 सेकण्ड बाद रॉकेट यान को 160 किलोमीटर की उ चाई पर पहुँचा दिया। तीसरे खण्ड के इ जन ने 520 सैकण्ड की यात्रा के बाद सोयूज-11 यान को 225 किलोमीटर की उ चाई पर पहुँचाकर पृथ्वी की कक्षा मे धकेल दिया।

इस प्रकार, धरातल से उठने के बाद केवल दस मिनट के भीतर ही सोयूज-11 पृथ्वी की कक्षा मे पहुँच गया था। इस दौरान अन्तरिक्ष-यात्रियो को गुरुत्व-भार की चरम परिस्थितियो स गुजरना पडा धरातल पर सामा य यात्री 'एक' गुरुत्व-भार, रॉकेट-यान जब तेजी से ऊपर जा रहा था, उस समय चार-पाच गुना गुरुत्वभार और सोयूज-11 यान जैसे ही कक्षा मे मुड गया, तो गुरुत्व भार कुछ नही, यानी एकदम भारहीनता की स्थिति बन गई।

सोयूज -11 यान केवल दस मिनटो मे अन्तरिक्ष मे तो पँहुच गया था, पर सेल्यूत 7 प्रयोगशाला के साथ इसे जोडना करीब 24 घण्टे बाद ही सम्भव हुआ। दूसरे दिन सोयूज-11 यान को छोटे राकेट दाग कर इसे अधिक कक्षा मे पँहुचाया गया। फिर इसे सेल्यूत-7 प्रयोग-शाला से जोडा गया। यह सारा काम स्वचालित रूप से हुवा, कम्प्यूटरो की सहायता से हुवा, पूर्ण रूप से कालिनिनग्राद के नियन्त्रण केन्द्र की देख-रेख मे हुआ। सेल्यूत-7 उपग्रह म पहले से ही तीन सोवियत यात्री पँहुच चुके थे। उन्होने राकेश शर्मा व उन के साथियो का स्वागत किया। यह पहला अवसर था जबकि सेल्यूत-7 मे पाच से अधिक यात्रियो ने सहयात्रा की हो।

इस एक सप्ताह की अन्तरिक्ष यात्रा के दौरान राकेश शर्मा और उनके साथियो ने अनेक प्रयोग किये। इनमे योगासनो की खूब चर्चा रही। राकेश शर्मा ने प्रतिदिन दो-दो मिनट के पाच किस्म के योगदान किए। प्रोग्राम के अनुसार अन्तरिक्ष यात्रियो को नियमित रूप से निर्धारित व्यायाम करना पडता है।

अन्तरिक्ष की विशिष्ट स्थिति है लगभग शून्य गुरुत्व भार, यात्री भारहीनता की स्थिति। औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से इस स्थिति के अनेक लाभ है। राकेश शर्मा ने कई प्रयोग किए। सेल्यूत-7 मे कुछ विद्युत भट्टिया है। इनमे से एक भट्टी से राकेश शर्मा ने चादी और जर्मोनियम को विभिन्न अनुपातो मे मिलाने के प्रयोग किए। कहते है कि धातुओ के मिश्रण का यह प्रयोग काफी लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

परन्तु सबमे अधिक सिद्ध होगे अन्तरिक्ष से लिए गये भारतीय भू-क्षेत्र के

विविध वर्णीय चित्र। सैल्युत-7 में एम. के. एफ.-6 एफ नामक एक छह वर्णीय कैमरा और वैंट 140 नामक कुछ कैमरे स्थापित किये गये। इन कैमरों की सहायता से भारतीय भू-क्षेत्र के कई हजार चित्र लिये गये है। इनसे हमारे वैज्ञानिकों को भारतीय भू-क्षेत्र की वन सम्पदा की, खनिज-सम्पदा की और जलराशि की बड़ी उपयोगी जानकारी मिलेगी।

राकेश शर्मा और रवीश मल्होत्रा दोनों ने ही सोवियत संघ में कठोर परिश्रम करके प्रशिक्षण प्राप्त किया। अन्तरिक्ष नाविक का प्रशिक्षण बहुत कठिन होता है। इसमें उच्च कोटि का तकनीकि ज्ञान प्राप्त करने के साथ शारीरिक तथा मानसिक क्षमता का भी उच्च स्तर पाना होता है। दोनों भारतीय नागरिकों ने पूरी सफलता के साथ प्रशिक्षण प्राप्त किया। भारतीय सरकार ने पहले भारतीय अन्तरिक्ष के रूप में राकेश शर्मा का चयन किया।

सोवियत संघ ने राकेश शर्मा को 'सोवियत संघ के वीर' की उपाधि देकर सम्मानित किया है, तो भारत सरकार ने उन्हें और उनके दो सोवियत साथियों का अशोक चक्र प्रदान किया है।

7. उपसंहार

अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान और कार्य की प्रायः यह कहकर आलोचना की जाती है कि भारत जैसे गरीब देश के लिए इस कार्य में धन व्यय करना उपयुक्त नहीं है, किन्तु यह आलोचना ठीक नहीं है। अन्तरिक्ष विज्ञान का उपयोग देश के विकास कार्यों में बहुत सहायक होता है। अन्तरिक्ष में घूमते हुए उपग्रह, मौसम, कृषि, खनिज आदि प्राकृतिक संसाधनों के विषय में महत्वपूर्ण सूचना देते है। भारत जैसे देश में जलवायु सम्बन्धी सूचना का महत्व बहुत अधिक है। यदि भारतीय किसान को मानसून और मौसम के विषय में समय-समय पर ठीक जानकारी मिल जाये तो खेती कार्य में इसे निश्चय ही बहुत सहायता मिलेगी।

आधुनिक विश्व में संचार साधनों की उपेक्षा करना भी सम्भव नहीं है। उपग्रह प्रणाली ने संचार-व्यवस्था को बहुत आगे बढ़ा दिया है। भारत में उपग्रहों के माध्यम से ही टेलिविजन कार्यक्रम का विस्तार सुदूर गावों तक सम्भव हुआ है। टेलीविजन मनोरंजन का साधन तो है ही, शिक्षा का भी महत्वपूर्ण साधन है। भारत के गावों से निरक्षरता और अज्ञान को दूर करने में उपग्रहों पर आधारित टेलीविजन शिक्षा का प्रयोग किया जा सकता है। अंतरिक्ष विज्ञान निस्संदेह बहुत कीमती है किन्तु हम यदि संसार के अन्य देशों के समकक्ष आना चाहते हैं और प्रगति करना चाहते हैं तो अन्तरिक्ष विज्ञान की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है।

भारत में सम्पूर्ण क्रान्ति की सार्थकता

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक .—क्रांति तथा सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणाए
2. सम्पूर्ण क्रान्ति आधारभूत कारण
3. सम्पूर्ण क्रान्ति का दार्शनिक आधार एव उसके बदलते स्वरूप
4. सम्पूर्ण क्रान्ति की विभिन्न दिशाएं
5. सम्पूर्ण क्रान्ति की कल्पना तथा भारत मे नये समाज का स्वप्न
6. उपसंहार ।

1. प्रारम्भिक :—क्रान्ति तथा सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणाएं

क्रान्ति का मूल तत्त्व 'परिवर्तन' है लेकिन प्रत्येक परिवर्तन क्रान्ति नही है। विकास मे भी परिवर्तन होता है लेकिन वह अज्ञात एव अलक्षित है, इसलिए विकास को हम क्रान्ति नहीं कह सकते। प्राचीन हिन्दू विचार मे सतयुग, त्रेता, द्वापर एव कलियुग मे मानव सभ्यता का विभिन्न विकास क्रम क्रान्ति नही है। क्रान्ति की दूसरी विशेषता है कि यह अज्ञात न होकर विचार एव प्रयत्नपूर्वक होती है, जिसके मूल मे कोई आन्तरिक प्रेरणा और सामाजिक परिस्थित्यन्तर ही रहता है। विचार-धाराओ का जो स्वत. विकास होता है, वह अलक्षित तो होता है उसकी गति भी धीमी रहती है। अर्नोल्ड टायनबी ने बताया है कि किस प्रकार प्राचीन यहूदी विचार मे जिसे 'चुने हुए लोग' कहते हैं, सज्जन, स्थित्यन्तर, तथा स्वर्ग का राज्य कहते है। उसे ही मार्क्सवादी शब्दावली क्रान्ति और राज्य का विलयन कहते हैं। इसी प्रकार वैदिक सस्कृति के विरुद्ध श्रमण सस्कृति की क्रान्ति मे पुराने मूल्य रख लिये गये, जैसे पुराने शरीर मे नवीन बल दिया गया। इसलिए क्रान्ति को यदि एक ओर विकास से भिन्न करना होता है तो दूसरी ओर सुधार से भी भिन्न करना है। सुधार विचार भी है और पुरुषार्थ भी किन्तु उसमे 'आमूल' परिवर्तन नही होता, सामान्य एवं छिटपुट परिवर्तन होते है। इसलिये सामाजिक क्रान्ति को सामाजिक जीवन का वह बिन्दु माना गया है जहा से सम्पूर्ण समाज मे परिवर्तन प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि क्रान्तियो के दो प्रकार होते है, सर्वांगीण (Total) और विशिष्ट (Partial)। वास्तव मे जो क्रान्ति मानव जीवन के समग्र

पहलुओं पर असर नहीं डालती, वह वास्तव में क्रान्ति ही नहीं है। इसलिए केवल राजसत्ता के परिवर्तन या अधिग्रहण को ही क्रान्ति कहना गलत है।

2. सम्पूर्ण क्रान्ति : आधारभूत कारण

यह तो 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के नाम से प्रकट है कि सम्पूर्ण क्रान्ति का लक्ष्य 'सम्पूर्ण मानव' बनाना है और मानव चूंकि समाज में ही रहता है अतः 'सम्पूर्ण समाज' को बदलना अपेक्षित है। केवल राजनैतिक उथल-पुथल या विप्लव से क्रान्तियां होनी तो जैसा अरस्तू ने बताया कि एथेंस में 11 बार ऐसी क्रान्तियां हो जाती जिसके कारण निरंकुश राजसत्ता से प्रजातांत्रिक व्यवस्था और प्रजातान्त्रिक प्रशासन से निरंकुश राजसत्ता का परिवर्तन हुआ। रोम में भी राज्यतन्त्र से कुलीन-तन्त्र एवं फिर सीजर का साम्राज्यवाद स्थापित हुआ है। मध्य युग में धर्म गुरुओं एवं सामन्तों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध अनेक नागरिक एवं कृषक विप्लव हुए। आधुनिक युग में भी विदेशी सत्ता और साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी मुक्ति संग्राम या सामन्तशाही के खिलाफ अनेकों सफल एवं असफल विद्रोह हुए लेकिन इनमें कोई भी सम्पूर्ण क्रान्ति नहीं कहला सकती। कठोर एवं निरंकुश सत्ता से उत्पन्न सामाजिक विशृंखलाओं के कारण जनता का अन्ध आक्रोश यत्र-तत्र फूट पड़ता था जो कभी दबा दिया जाता था और कभी सफल भी होता था। मार्क्स ने क्रान्तिकरण का शास्त्र बनाया। इसके अनुसार उत्पादन और उत्पादक के सम्बन्धों के कारण समाज में जो अन्तर्विरोध उमड़ता है वह वर्ग संघर्ष को जन्म देता है और वर्ग संघर्ष जब अत्यन्त तीव्र हो जाता है तो उसी को क्रान्ति कहते हैं। उत्पादन की नयी विधि एवं उसके उपकरण के कारण नई समाज रचना बनती है, और नये मानवीय सम्बन्ध बनते हैं और तब समाज के तत्वों का मनोविज्ञान बदलता है। इसके लिए उत्पादन के साधन एवं स्वामित्व में व्यक्ति के स्थान पर समाज को लाना होता है। फिर बुर्जुआ समाज की मान्यताएं, नियम, नैतिकता, परम्पराएं, परिवार, सम्पत्ति एवं शासन सबका विनाश कर नया समाज बनाना होगा। संक्षेप में मार्क्सवाद क्रान्ति को तब तक "क्रान्ति नहीं मानेगा जब तक समाज की प्रगति निश्चित और तीव्र गति से पूंजीवाद से समाजवाद की ओर न जाये।

क्रान्ति की भौतिक व्याख्या क्रान्ति के अर्थ को संकुचित करती है। भौतिक कारणों से भी अधिक क्रान्तियों के मूल में क्रान्तिकारी विचार एवं आदर्श रहे हैं। विचार क्रान्ति के गर्भ से ही वास्तविक क्रान्ति का आविर्भाव होता है। जहां आर्थिक स्थिति बदतर से बदतर भी रहती है वहां भी क्रान्तियां नहीं होती। इसके विपरीत जहां जनता की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी रहती है किन्तु उनकी आकांक्षाएं, विचार, आदर्श एवं मूल्यों में परिवर्तन आने लगते हैं तो क्रान्ति हो जाती है। अमल में क्रान्ति के कई कारण हैं।

1. सामाजिक असन्तोष, 2 राजनैतिक दमन, 3. आध्यात्मिक असतोष, 4. वैज्ञानिक आविष्कार, 5. ज्ञान विस्तार, 6. भौगोलिक खोज, 7. मानव का देशातर गमन, 8. वैदेशिक संस्कृति एव शिक्षा, 9 जीवन दर्शन का प्रभाव, 10 शोषण एव वर्ग सघर्ष, 11. शासको का आन्तरिक कलह, 12 भ्रष्टाचार, 13. मनोवैज्ञानिक कारण जैसे आदर्श व्यवहार मे दूरी, प्रचलित मान्यता की अपर्याप्तता आदि। इसलिए क्रान्ति के केवल आर्थिक ही नही बल्कि वैचारिक, नैतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक आदि भी कारण है। अमेरिका क्रान्ति या फ्रांसीसी क्रान्तियो के समय पहले से आर्थिक स्थिति कोई खराब नही थी। यहा तक कि करेन्स्की के समय लेनिन के ही शब्दो मे रूस विश्व मे सबसे स्वतन्त्र देश था। फिर भी क्रान्तिया इसलिए हुई कि विचारो मे परिवर्तन हुए, व जागरण हुआ। अत. क्रातियो का केवल भौतिक एव आर्थिक कारण बताना इतिहास के प्रतिकूल तो है ही, यह अवैज्ञानिक भी है।

3. सम्पूर्ण क्रान्ति का दार्शनिक आधार एव उसके बदलते स्वरूप

समाज के समग्र जीवन मे आमूल परिवर्तन का वैज्ञानिक अध्ययन मार्क्स के पहले शायद नही हुआ। दार्शनिको ने स्वप्रचारी आदर्श की भले ही बात की थी लेकिन सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे क्राति का विज्ञान नही रखा। 'रामराज्य', प्लेटो की रिपब्लिक', टामस मूर की 'यूटोपिया' आदि इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। इसीलिए मार्क्स को कहना पडा, "दार्शनिको ने अब तक केवल विश्व की व्याख्या की है, किन्तु समस्या है इसका परिवर्तन कैसे हो ?" अत. दार्शनिको के प्रयत्न दिशानिर्देश के बिन्दु तो हो सकते है, यथार्थ के नही।

धर्म ने समाज परिवर्तन का लक्ष्य अवश्य माना किन्तु उसके लिए उसने व्यक्ति को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसे दिव्य बनाने की आध्यात्मिक साधना बतायी। व्यक्तिगत जीवन के साथ धर्म का सामाजिक साधना मे भी कम महत्त्व नहीं है किन्तु धर्म की दृष्टि मूलतः व्यक्ति केन्द्रित रही। विश्वास था कि यदि व्यक्ति अच्छे हो जायेंगे तो समाज भी सुधर जायेगा। लेकिन 2500 वर्षो के धर्म के इतिहास का यह अनुभव है कि धर्म ने आदर्श व्यक्ति बनाने मे जितनी सफलता पायी है, आदर्श समाज बनाने मे वह उतना सफल नही रहा, वरना धर्म के नाम पर "सौ वर्षो की लडाई", शोषण, प्रताडना आदि न होते। यही कारण है कि मार्टिन लूथर, कबीर, दयानन्द, इकबाल, आदि ने धर्म-सुधार के काम किये। स्वामी विवेकानन्द को तो व्यक्तिगत धर्म की जगह पर विश्वधर्म की स्थापना पर जोर देना पडा और विनोबा जैसे अध्यात्मिको ने प्रचलित धर्म को व्यक्तिगत भक्ति एव व्यक्तिगत मुक्ति का विचार रखा।

जब धर्म का गतित्व शिथिल पडने लगा और धर्म के नाम पर शासको की निरंकुशता, आर्थिक शोषण एव सामाजिक विषमता बढने लगी तो रूसो के "समता,

स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व" के नारे पर फ्रांस में राजनैतिक क्रांति हुई और राजतंत्र के बदले प्रजातन्त्र का उदय हुआ। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को शीर्ष स्थान मिला एवं संसदीय जनतन्त्र, निर्वाचन में बहुमत के आधार पर, शासन का विधान आया। जनता के प्रतिनिधित्व के बिना जनता कर नहीं देगी—ऐसा विचार आया।

किन्तु आर्थिक समानता के बिना यह राजनैतिक समानता एक मखौल बन गयी। जनतन्त्र में भी वोट खरीदे एवं छीने जाने लगे। इस सत्य को मार्क्स ने उजागर कर "आर्थिक क्रांति" की बात रखी। पूंजीवादी प्रजातन्त्र का लाभ केवल सुविधा-प्राप्त वर्ग को मिलता है, मेहनतकश लोगों को नहीं।

उत्पादन के साधन और स्वामित्व जब तक व्यक्ति के हाथ में रहेगा तो केवल प्रजातन्त्र ही पाखण्ड नहीं बन जाता बल्कि सभ्यता-संस्कृति, धर्म और नैतिकता सबका ह्रास हो जाता है। मानव का सबसे बड़ा अधिकार जीने और जीविका प्राप्त करने का है। इनके अभाव में पूंजीवादी संविधानों में प्रदत्त जनता के मौलिक अधिकार प्रजातन्त्र की शव-यात्रा के शृंगार होंगे। रूस की बोलशेविक क्रांति का मूलाधार यही है।

चीन में भी इसी प्रकार की आर्थिक-क्रांति हुई लेकिन माओत्से-तुंग ने यह समझा कि केवल सत्ता परिवर्तन और आर्थिक पद्धति बदलने से ही क्रांति पूर्ण रूप से नहीं होगी, इसके लिए नानाविध जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं, रूढ़ियों और मान्यताओं के विरुद्ध लड़ना होगा। इसी को सांस्कृतिक क्रांति कहते हैं, करोड़ों नौजवानों को 'लाल रक्षकों' के रूप में संगठित कर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में लगाकर अद्भुत चमत्कार किया गया। सदियों से चले आ रहे अफीम, वेश्यावृत्ति, लड़कियों के पैर के बन्धन समाप्त हो गये और प्रशासन के खिलाफ क्रांतिकारी अभियान प्रारम्भ हुआ। यह अलग बात है कि यह जनता की स्वतः स्फूर्त क्रांति ही नहीं बल्कि राजसत्ता के द्वारा परिचालित हुई थी।

सांस्कृतिक क्रांति के अन्तर्गत अन्य सभी प्रकार की क्रांतियां आ जाती हैं जिनमें शैक्षिक-क्रांति का विशेष स्थान है। चीन की सांस्कृतिक क्रांति में भी शिक्षा के प्रतिष्ठान बन्द कर हाफ-हाफ 'आधा काम एवं आधा पढ़ो' की प्रथा शुरू हुई। रूस ने भी मैकेरेंको ने रूस की शिक्षा-पद्धति का मूल्यांकन करते हुए कार्य पर जोर दिया। महात्मा गांधी, आदि लोगों ने भी "शिक्षा में क्रांति" के चाहे जो भी आयाम प्रस्तुत किये हों, सभी ने "उत्पादक श्रम", 'व्यावसायिक कौशल', कार्यानुभव पर ही जोर दिया। कार्य के माध्यम से शिक्षा की श्रेष्ठ पद्धति स्वीकार की गयी।

शिक्षा सांस्कृतिक क्रांति की बुनियाद है लेकिन शिक्षा समाज में ही होती है। समाज-परिवर्तन के बिना शिक्षा में परिवर्तन भी कठिन है। इसीलिए सांस्कृतिक क्रांति के लिए सामाजिक क्रांति भी अपेक्षित है। समाज के पुराने संस्कार जल्दी नहीं टूटते। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, धर्म आदि के भेदों के कारण मानवता खण्डित और

विभाजित है। भारत की जाति व्यवस्था केवल 'सामाजिक अन्याय' के लिए ही नही बल्कि आर्थिक विषमता का भी कारण हैं। सामाजिक रूप से पिछडी जातियां वस्तुतः राजनैतिक एव आर्थिक रूप से भी पिछडी हैं। इसी प्रकार समाज मे न जाने कितने दहेज, नारियों की उपेक्षा आदि कितनी कुरीतियां है।

इसीलिए क्रांति खण्डित नही, सम्पूर्ण होगी। इसीलिए मार्क्स और महात्मा गाधी दोनो ने 'सम्पूर्ण क्रांति' की बातें रखी। यह अलग बात है कि उनकी कल्पनाए भिन्न थी। डॉ राममनोहर लोहिया ने भी 'सप्तक्रांतियों' का विचार रखा जिसमे (1) जन्मजात जाति की विषमता का नाश, (2) परदेशी गुलामी के खिलाफ और विश्वराज्य की स्थापना का प्रयास, (3) नर-नारी की समानता, (4) चमडी के रंग पर रची असमानता का नाश, (5) निजी पूजी की विषमताओ के खिलाफ और योजना द्वारा पैदावार बढाने के लिए, (6) निजी जीवन म अन्याय के खिलाफ संघर्ष, (7) अस्त्र शस्त्र के खिलाफ सत्याग्रह के लिए—को शामिल किया। कई वर्ष पूर्व से भारतीय जनसघ ने भी 'समग्र क्रांति' पर सोचना शुरू किया था। लेकिन बिहार के आन्दोलन के गर्भ से 'सम्पूर्ण क्रांति' का मन्त्र जब लोकनायक जयप्रकाश ने उच्चार किया तो अनेको के लिए 'प्रेरणा' और अनेको के लिए 'विवाद' का विषय बन गया। जहां कुछ लोग 'सम्पूर्ण क्रांति' के क्षेत्र मे 'विश्व को भारत का अवदान' और गाधी विचार का 'तेजस्वी पुनर्जन्म' देखते हैं, वही दूसरे लोग 'सम्पूर्ण क्रांति' को सम्पूर्ण सर्वनाश का पूर्वाभ्यास कह रहे है। सबसे बडी सैद्धांतिक आलोचना यह है कि 'सम्पूर्ण क्रांति' के आधारभूत लक्षण के साथ इसकी दिशाए स्पष्ट करनी होगी। किन्तु उसके भी पूर्व हमे क्रांति के मूल कारणो की भी खोज करनी होगी।

4. सम्पूर्ण क्रान्ति की विभिन्न दिशाए

सम्पूर्ण क्रांति का ध्रुवतारा 'मानव' है। मानव किसी प्रकार पूर्ण बन सके, इसके लिए समाज परिवर्तन आवश्यक है क्योंकि वह सामाजिक जीव है। उसमे भी उसका मस्तिष्क एव हृदय है। अत वह केवल शरीर स ही पुष्ट नही, बल्कि मस्तिष्क मे सजग एव हृदय से उदबुद्ध होना चाहता है। इसलिए 'सम्पूर्ण क्रांति' मे समता के साथ स्वतन्त्रता, रोटी के साथ आजादी और विज्ञान के साथ अध्यात्म का समन्वय आवश्यक है। समाजशास्त्र के सन्दर्भ मे 'जनतन्त्र एव समाजवाद' दोनो ही सम्पूर्ण क्रान्ति के प्राण हैं।

मानव हित ही हमारी सफलता का अन्तिम मापदण्ड होगा। हमारी राजनीति, अर्थनीति, उद्योग, शिक्षा आदि सभी मानव-केन्द्रित होगी। जो राजनीति आज पाखण्ड और मिथ्यात्व का पर्याय बन गयी है उसे मानव भ्रातृत्व का विज्ञान बनाने के लिए राजनीति का अध्यात्मीकरण करना होगा या जिसे आज 'शुद्ध

राजनीति' कहते हैं इसके अभाव में तो राजनीति 'धूर्तो का व्यवसाय' एवं 'झूठे वायदो का विज्ञान' बनकर रह जायेगा।

शिक्षा भी एक व्यवसाय बन गयी है। सभ्यता एव संस्कृति का आधार भी 'सफलता' है। सक्षेप मे 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के मूल मे नैतिकता या धर्म जोडना पडेगा। यह एक नैतिक क्रान्ति है, इसीलिए इसकी शुरुआत स्वयं व्यक्ति से होगी। यदि हमारे जीवन मे शोषण, भ्रष्टाचार एव सिद्धान्त-व्यवहारिक अन्तर रहा तो हम 'सम्पूर्ण क्रान्ति' मे सम्पूर्ण रूप से छूट जायेंगे।

यदि सम्पूर्ण क्रान्ति का लक्ष्य है विचार और मूल्य मे आमूल परिवर्तन है तो यह जोर जबरदस्ती से सम्भव नही। विचार से ही विचार बदलता है, मूल्य बदलता है और मान्यताएं बदलती है। इसलिए क्रान्ति के लिए हिंसा या दबाव असंगत है। इससे हिंसा एव प्रतिहिंसा का दौर शुरू हो जाता है जिसका कोई अन्त नहीं। दुनियां मे बुद्ध, महावीर, ईसा, सुकरात एवं गांधी आदि का असर सिकन्दर, चंगेज एवं हिटलर से कैसे कम माना जाये? तलवार केवल शरीर पर असर डालती है, लेकिन विचार और प्रेम केवल दिमाग को ही नही बल्कि दिल को भी आश्वस्त कर स्थायी असर पैदा करते हैं। हिंसक क्रान्ति मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छिन जाती है और अन्ततोगत्वा जनता के हाथ मे सत्ता न जाकर किसी तानाशाह के पास चली जाती है।

5. सम्पूर्ण क्रान्ति की कल्पना तथा भारत में नये समाज का स्वप्न

ससार मे सत्ता परिवर्तन मात्र से ही कही कोई क्रान्ति नही हुई, क्योंकि सत्ता जिसके हाथ मे आती है, उस गुट के नेता के अधीन राजनैतिक, आर्थिक, सैनिक, संवैधानिक, सास्कृतिक, न्यायिक, औद्योगिक आदि सम्बन्धी समस्त शक्तियां आ जाती है, और ज्यो-ज्यो सत्ता के मद में उसकी कार्यकुशलता घटती जाती है—वह सरकार समाज को स्वच्छ शासन-प्रशासन देने के बजाय उसका दमन और नियन्त्रण करने लगती है। यही कारण है कि मार्च 1977 की जनक्रांति के फलस्वरूप सत्ता जिनके हाथ मे आयी—उन्होंने सत्ता मे आने को अपना अन्तिम लक्ष्य मान लिया और उनकी क्रान्ति सत्ता प्राप्ति के साथ ही समाप्त हो गई

वास्तव मे गलत मार्ग पर जाने वाले राजनीतिज्ञो को और जनतान्त्रिक मूल्यो के पतन को जागरूक जनता ही रोक सकती है, और सत्ता की राजनीति को मर्यादित कर सकती है। वस्तुतः क्रान्ति जनता के द्वारा ही होती है, और क्रान्ति उस समाज मे ही सम्भव है जिसमे व्यक्ति अतीत की परम्पराओं, पुरखों के रीति-रिवाजों और अन्धविश्वासो से मुक्त हो। इसलिए भारत मे क्रान्ति के लिये यह जरूरी है कि उसका जो यह क्रान्ति विरोधी ढांचा है, उसे तोडा जाय।

हमारे देश मे क्रान्ति के लिये जो सबसे बडी रुकावट है वह है इस देश की जनता का भाग्यवाद। लोगो मे जब तक कर्म के प्रति आस्था नही जागेगी—तब तक कोई वास्तविक परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतीत के प्रति हमारा मोह पागलपन

की सीमा तक है, और इस मोह के रहते क्राति की सम्भावना अधिक नही रह जाती है। अत अतीत के प्रति अत्यधिक मोह को छोडना होगा। हमारे देश मे धर्म क्रान्ति विरोधी है। यदि हम उसे क्रान्ति विरोधी न भी कहे तो भी कम से कम उसका क्रान्ति के विरोध मे अब तक उपयोग भाग्यवादियो द्वारा होता रहा है।

हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली, जिसने श्रम का मूल्य ही समाप्त कर दिया है, युवा वर्ग को जडवत बनाकर छोड देती है। सामन्तवादी व्यवस्था से उत्पन्न वर्तमान शिक्षा व्यवस्था से केवल हुक्कामो की ही भीड बढती जा रही है। देश मे एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है जो देश के युवा वर्ग मे राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार करने क भाव पैदा कर सके और विद्यार्थियो के भीतर उच्च सामाजिक एव नैतिक मूल्यो का बीजारोपण कर सके। इससे पूर्व एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति की आवश्यकता है जो देश के लोगो मे कुछ नया करने का साहस पैदा कर सके। तत्पश्चात यह आवश्यक है कि पूरे देश मे पहले सभी पुराने और परम्परागत मूल्यो पर नये सिरे से विचार की प्रक्रिया प्रारम्भ हो और यही क्रान्ति की पहली शर्त है। केवल तात्कालिक समस्याए ही पर्याप्त नही है, वरन् तात्कालिक प्रश्नो की चिन्ता छोडकर पहले देश मे सोच-विचार का वातावरण पैदा करना होगा—जिससे समाज को यह अनुभव होने लगे कि अब उसके पुराने मूल्य व्यर्थ सिद्ध हो चुके है। उसकी जगह नये मूल्यो की किस प्रकार स्थापना की जाय—इस पर समाज चिंतन करने लगे।

6. उपसंहार

जयप्रकाश नारायण ने अपने अन्तिम चरण मे वर्ग-सघर्ष को नए रूप मे कल्पना की है। वे वर्ग सघर्ष को अनिवार्य मानते थे। लेकिन वह कैसे सम्भव होगा। जे पी उसी रास्ते की तलाश मे थे। उनकी यह मान्यता थी कि सम्पूर्ण क्रान्ति को प्राप्त करने हेतु वर्ग-सघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना हमारे काम की नही। उनके अनुसार मार्क्स ने जो कुछ कहा था वह औद्योगिक समाज पर लागू होता है। भारत के कृषि समाज म यह सिद्धान्त लागू नही होगा। उनका ख्याल था कि नीचे के वर्गों मे आत्म सम्मान का जन्म होना चाहिए। उनक आत्म-सम्मान और विश्वास का दबाव ही ऊपर के वर्ग-चरित्र को बदलने मे सहायक सिद्ध हो सकेगा। जे पी ने बडे ही साफ शब्दो म कहा है—"मैं दोहरे दलाल की कल्पना करता हूँ—ईमानदार और निस्वार्थ युवको कार्यकर्ताओ द्वारा व्यापक लोक-शिक्षण का दलाल और पिछडे दबे लोगो के व्यापक सगठन का दलाल। दलाल की यह दोहरी ताकत सामती, शोषण-व्यवस्था को तोडेगी।"

इस प्रकार हम देखते है कि अपने देश मे आर्थिक-सामाजिक सम्पूर्ण क्राति के लिए जयप्रकाश जी की कल्पना का वर्ग सघर्ष बहुत हद तक व्यवहारिक है। हो सकता है कि भविष्य म कोई नई परिस्थिति बन और यह सिद्धान्त कुछ और सशोधित हो। लेकिन आज की स्थिति मे इस पर कार्य आरम्भ हो जाना अति आवश्यक है।

केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देशन
3. संघीय कृत्यों को राज्यों को सुपुर्द करना
4. अखिल भारतीय सेवाएं
5. अन्तर्राज्यीय जल-सम्बन्धी विवाद
6. राज्यों के बीच समन्वय
7. राज्यों में सांविधानिक संघ की विफलता तथा पारस्परिक प्रशासनिक सम्बन्ध
8. केन्द्र की व्यापक प्रशासनिक अधिकार-व्यवहारिक पक्ष
9. केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध
10. आर्थिक नियोजन का राज्यों के प्रशासन पर प्रभाव
11. उपसंहार।

1. प्रारम्भिक :

संघीय व्यवस्था में शासनतन्त्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों ओर से संघर्ष एवं टकराव के बजाय सहयोग एवं परस्पर प्रीति हो। संघ और राज्य यद्यपि अपने-अपने क्षेत्र में सम्प्रभु हैं एवं एक दूसरे के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप या अतिक्रमण नहीं कर सकते तथापि सांविधानिक उपबन्धों के द्वारा उनमें तालमेल, समन्वय एवं सहयोग स्थापित करने का प्रयास किया गया है जिससे कि मधुर सम्बन्ध कायम कर राष्ट्र निर्माण एवं जन-कल्याण के पुनीत कर्त्तव्य की ओर राष्ट्र अग्रसर हो सके। विभिन्न संघीय संविधानों के प्रवर्तन में उत्पन्न कठिनाइयों को नजर में रखते हुए हमारे संविधान-निर्माताओं ने संविधान में ऐसे उपबन्धों का समावेश किया है जिससे केन्द्र को कुछ मामलों में अधिभावी शक्तियां (Over-riding Powers) प्राप्त हुई हैं। राज्य सरकारें, केन्द्रीय प्रशासनी नीतियों में हस्तक्षेप न करें, राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता बनी रहे, इस दृष्टि से संविधान के विभिन्न उपबन्धों के द्वारा राज्य सरकारों पर प्रशासकीय नियंत्रण स्थापित करने के लिए केन्द्र को शक्ति प्रदान की है।

2. केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देशन

संविधान के अनुच्छेद 256 के अनुसार प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करना होगा कि संसद् द्वारा निर्मित अधिनियमों का पालन निश्चित रूप से हो। इस प्रयोजन के लिए संघीय कार्यपालिका राज्यों की कार्यपालिका को उचित निर्देश दे सकती है। अधिकांश संघात्मक राज्यों में संघ द्वारा निर्देश जारी करने के विस्तार को कोई स्थान नहीं है। इसे भय तथा आशंका की दृष्टि से देखा जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में भी यही स्थिति है। किन्तु कठिनाई यह है कि व्यवहार में इससे बचना आसान नहीं है।

केन्द्र को निर्देश देने का अधिकार देकर ही हमारा संविधान सन्तुष्ट नहीं हुआ वरन् आगे अनुच्छेद 257 में प्रत्येक राज्य को यह आदेश दिया गया है कि राज्य के अन्तर्गत केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति को संकुचित अथवा रुद्ध न किया जाए। यदि किसी संघीय अभिकरण को किसी राज्य में अपने कर्तव्य का पालन करने में कठिनाई होती है तो संघीय कार्यपालिका राज्य सरकार को आवश्यक निर्देश दे सकती है। कुछ विशेष विषय ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में केन्द्र को ऐसे निर्देश जारी करने का अधिकार है, जैसे—

(1) राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्व के संचार साधनों का निर्माण तथा पोषण।

(2) राज्यों के क्षेत्र में रेल की लाइनों की सुरक्षा आदि।

केन्द्र द्वारा निर्देशित कार्यों की पूर्ति के लिए सम्भव है कि राज्यों को सामान्य व्यय से अधिक व्यय करना पड़े। संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि इस प्रकार के कार्यों के लिए राज्य द्वारा जो अतिरिक्त व्यय किया जाए उसकी क्षतिपूर्ति कर दी जाए। मध्यस्थ द्वारा यह निश्चित किया जायेगा कि राज्य ने उस कार्य के लिए अतिरिक्त व्यय कितना किया है, संघ द्वारा वह राशि राज्य को क्षतिपूर्ति के रूप में दी जायेगी।

हमारी संसद् को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने किसी कानून द्वारा राज्य के अधिकारों को कोई सत्ता प्रदान कर सकती है अथवा उन्हें कोई दायित्व तथा कर्त्तव्य सौंप सकती है। संघ सरकार राज्य तथा उसके अधिकारियों द्वारा उक्त कार्यों के लिए किए गये व्यय की अदायगी राज्य सरकार को करेगी। यदि इस सम्बन्ध में कोई विवाद हो तो उसका निर्णय भारत के मुख्य न्यायाधिपति द्वारा नियुक्त किसी मध्यस्थ द्वारा किया जायगा।

इस प्रकार अनुच्छेद 256 एवं 257 राज्यों की कार्यपालिका पर निश्चित रूप से धनात्मक और निषेधात्मक (Positive and Negative) प्रतिबन्ध लगाते हैं और केन्द्र सरकार को विस्तृत अधिकार प्रदान करते हैं कि वह राज्यों में किसी भी प्रकार का प्रशासनिक कृत्य कर सकती है।

6 राज्यों के बीच समन्वय

यद्यपि संघ के सभी अवयवी तत्व अथवा इकाइयां अपने अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वायत्ता का उपभोग करती है फिर भी कोई भी तत्व पूर्णतया पृथक् या किसी से सम्बन्ध रखे बिना नहीं रह सकता। सत्य बात तो यह है कि अवयवों की स्वायत्तता का यही अर्थ है कि प्रत्येक अवयव परस्पर सहयोग के कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण करें। इसलिए समस्त संघीय संविधान कुछ ऐसे परस्पर समन्वय के नियमों को बनाए रखते है, जिनका पालन संघ के सभी तत्वों के लिए आवश्यक माना जाता है। भारतीय संविधान में अन्तर्राज्यीय परिषदों के लिए उपबन्ध किया गया है। अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना लोकहित की सिद्धि के लिए आवश्यक है, निम्न विषयों पर अन्तर्राज्यीय परिषद् अपना परामर्श प्रदान कर सकती है

(1) राज्यों के बीच जो विवाद उत्पन्न हुए है,

(2) कुछ या सब राज्यों के अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के पारस्परिक हितों से सम्बन्ध विषयों के अनुसन्धान और चर्चा करना।

(3) उक्त विषयों पर सिफारिश करना।

7 राज्यों में संविधानिक तन्त्र की विफलता तथा पारस्परिक प्रशासनिक सम्बन्ध

अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह किसी राज्य में सांविधानिक तन्त्र की विफलता की अवस्था में आपात् की उद्घोषणा करे। राष्ट्रपति अपनी इस सांविधानिक शक्ति का प्रयोग प्रायः तभी करता है जबकि उसे किसी राज्य के राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा यह समाधान हो जाए कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। राष्ट्रपति अपनी उक्त घोषणा द्वारा—

(क) राज्य सरकार के समस्त तथा किन्हीं कृत्यों को तथा राज्यपाल या राज्य के किसी निकाय या प्राधिकार में निहित या उसके द्वारा प्रयुक्त सभी या किन्हीं शक्तियों को स्वयं धारण कर सकता है,

(ख) राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल की शक्तियों को संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयुक्त करने की उद्घोषणा कर सकता।

(ग) राष्ट्रपति अपनी उपर्युक्त उद्घोषणा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐसे प्रासंगिक उपबन्ध भी बना सकेगा जिन्हें वह आवश्यक अथवा वांछनीय समझता है।

संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन आपात उद्घोषणा करने से पूर्व राष्ट्रपति को चाहिए कि वह किसी राज्य के सांविधानिक तन्त्र के विफल होने के सम्बन्ध में अपना समाधान करलें। अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा आपात् उद्घोषणा से पूर्व केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् से लिखित रूप में उसकी मन्त्रणा प्राप्त कर लेंगे। 44 वें संविधान संशोधन द्वारा राष्ट्रपति पर वह सांविधानिक उत्तरदायित्व

अधिरोपित किया गया है। संघीय सरकार यदि सांविधानिक उपबन्धों के अधीन रहते हुए कोई राजनीतिक अथवा कार्यपालिका सम्बन्धी निर्देश प्रसारित करती है। तो वह न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र नहीं है कि वह उसकी वैधानिकता की चुनौती को स्वीकार करे। लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि यदि संघ की कार्यपालिका अपनी सांविधानिक मर्यादाओं का अतिलंघन करती है तो न्यायपालिका को अवश्य ही राज्य सरकारों को विधिक उपचार प्रदान करने चाहिये।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि राज्य में सांविधानिक तन्त्र के विफलता के फलस्वरूप केन्द्र को असीमित व्यापक प्रशासनिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं।

8. केन्द्र को व्यापक प्रशासनिक अधिकार—व्यवहारिक पक्ष

राज्य सरकारों पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण वस्तुतः इतना व्यापक है, केन्द्र को राज्यों में हस्तक्षेप के इतने अवसर हैं तथा केन्द्रीय सरकार के व्यवस्थापन विषयक व प्रशासनिक अधिकार इतने अधिक है कि भारत को संघ राज्य मानने में कठिनाई होती है। 1977 में तथा पुनः 1980 में 9 राज्यों की सरकारों को इस आधार पर पदच्युत कर नवीन निर्वाचन इस आधार पर कराये गये कि संसदीय चुनावों में इन दलों की सरकारों को मुँह की खानी पड़ी थी। राज्य सरकार की पदच्युति को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती भी दी गई किन्तु न्यायालय का फैसला केन्द्रीय सरकार के पक्ष में रहा। वास्तव में केन्द्रीय सरकार का प्रशासनिक नियन्त्रण इतना व्यापक है कि भारत में एकात्मक शासन ही अधिक प्रतीत होता है। संघ राज्य कहना तो मात्र स्थानीय भावनाओं की संतुष्टि के लिए है।

कानून एवं व्यवस्था यद्यपि राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है तदपि किसी भी समय सीमा सुरक्षा बल अथवा भारतीय सेनाओं को भेज कर केन्द्र इस क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करता है। स्पष्ट है कि केन्द्र जब भी चाहे और जिस रूप में चाहे, इकाई राज्यों के प्रशासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है। वास्तविकता यह है कि राज्य का प्रमुख राज्यपाल केन्द्र द्वारा मनोनीत व्यक्ति होता है। वह केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में अधिक कार्य करता है क्योंकि उसे अपने विवेक से कार्य करने के अधिकार राष्ट्रपति से भी कहीं अधिक हैं। यह आश्चर्य की बात है कि एक मनोनीत पदाधिकारी को अपने विवेक से कार्य करने के अवसर निर्वाचित राष्ट्रपति से अधिक हैं। इन राज्यपालों ने समय-समय पर अपने आचरण से इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

जो अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त नहीं है वह दलीय व्यवस्था पूरी कर देती है। यदि केन्द्र तथा राज्य की सरकार एक ही राजनीतिक दल की है तो राज्य के मुख्यमन्त्री व अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति केन्द्रीय नेतृत्व के परामर्श से होती है। राज्य का मुख्यमन्त्री भी प्रायः बौना हो जाता है। यदि राज्य सरकार किसी

अन्य दल की है तो उसे भग होने का भय सदैव बना रहता है। यदि यह कह दिया जाय कि इस प्रकार की राज्य सरकारें केन्द्र की इच्छा पर निर्भर करती हैं तो अनुचित न होगा। अत यह नि सकोच कहा जा सकता है कि प्रशासनिक क्षेत्र में राज्य सरकार पर नियन्त्रण कठोर है।

जो स्वतन्त्रता राज्य सरकारों को प्राप्त है वह भी वित्तीय व्यवस्था के कारण और अधिक सीमित हो जाती है। इस दृष्टि से हमें केन्द्र व राज्य के वित्तीय सम्बन्धों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है —

यद्यपि राज्य सरकारों की आय के साधन सुनिश्चित है तदपि राज्य सरकारों को केन्द्र की आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती रहती है। उस सहायता के अभाव में राज्य का विकास कार्य अवरुद्ध हो जाता है। केन्द्र की सरकार अनुदान के माध्यम से राज्य सरकारों को निर्देश देने की स्थिति में रहती है। अत केन्द्रीय सरकार का महत्व स्वय सिद्ध है।

9. केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध

केन्द्र राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर समीक्षा करने से पूर्व हमें सम्बन्धित सरकारों के राजस्व अथवा आय के स्रोतों का जानना परमावश्यक है। केन्द्र की सरकार के आय के साधन निम्न है —

(1) कृषि की आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर (2) सीमा कर (3) निगम कर (4) कृषि से सम्बन्धित भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति पर 'आस्ति' (5) सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कर (6) शेयर बाजारों तथा वायदा बाजारों के सौदों पर कर (7) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर (8) व्यावसायिक उद्यमों पर कर (9) मुद्रा ढलाई आदि पर कर (10) सरकार द्वारा एकत्रित की जाने वाली धनराशिया आदि।

राज्यों की आय के साधन भी निश्चित हैं जो इस प्रकार है —

(1) कृषि आय पर कर (2) भूमि तथा भवनों पर कर (3) माल गुजारी (4) भूमि सम्बन्धी आय पर कर (5) नशीली वस्तुओं के उत्पादन पर कर (6) प्रयोग तथा विक्रय के लिए माल के प्रवेश पर कर (7) पशुओं तथा नावों पर कर (8) विद्युत के उपयोग तथा विक्रय पर कर (9) सड़कों तथा आन्तरिक जलमार्गों से ले जाने वाले माल व सवारियों पर कर आदि।

केन्द्र तथा राज्य दोनों ही समवर्ती सूची में दिए गए कार्यों से सम्बन्धित आय पर कर लगा सकते हैं इन्हें हम समवर्ती स्रोत कह सकते हैं।

सघ तथा राज्य सरकारों के मध्य प्राप्त आय का बटवारा भी होता है। कुछ ऐसे कर हैं जिन्हें केन्द्र की सरकार लगाती है तथा राज्य सरकारें एकत्रित करती है। कुछ ऐसे कर हैं जिन्हें केन्द्र की सरकार ही लगाती है तथा वसूल करती

है किन्तु उसकी प्राप्तियाँ राज्य सरकारों को प्राप्त होती है। कुछ ऐसे कर है जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगाती है तथा एकत्रित करती है किन्तु शुद्ध आय राज्य को प्राप्त होती है। कुछ ऐसे भी कर हैं जिन्हें केन्द्र की सरकार लगाती है, एकत्रित करती है तथा स्वयं ही उसका प्रयोग करती है। करों का विभाजन केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य हो जाता है।

वित्तीय व्यवस्था के लिए प्रति पाँचवे वर्ष एक वित्त आयोग का गठन किया जाता है जिसके प्रतिवेदन को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने का अधिकार केन्द्र सरकार को है। वह भी वित्त आयोग की व्यवस्थाओं को प्रभावी करती है।

10. आर्थिक नियोजन का राज्य के प्रशासन पर प्रभाव

भारतीय संविधान ने केन्द्रीय सरकार को व्यवस्थापन, कार्यपालिका एवं प्रशासन न्याय क्षेत्र में व्यापक अधिकार प्रदान किये है। इसी कारण भारत का संघात्मक स्वरुप नाम मात्र का रह जाता है। सर्वाधिक मात्रा में केन्द्र के पक्ष मे बल देने का प्रमुख कारण आर्थिक नियोजन भी है। केन्द्रीय सरकार आर्थिक नियोजन द्वारा देश के सभी क्षेत्रो का सम्यक् विकास करने का प्रयास करती है। यह योजनायें व्यापक आधार पर पाच वर्ष के लिए तैयार की जाती है। उनके लिये वित्तीय साधन जुटाने की क्षमता केन्द्रीय सरकार की है। केन्द्र ही यह निश्चित करता है कि कौन-सा उद्योग किस क्षेत्र मे स्थापित किया जाय। यह सर्वविदित है कि कोई भी नवीन उद्योग क्षेत्रीय लोगो की बेरोजगारी को दूर करने मे पर्याप्त मात्रा मे सहायक सिद्ध होते है। अत. प्रत्येक राज्य का यह प्रयास रहता है कि केन्द्र वहाँ अधिक से अधिक उद्योग स्थापित करे जिससे राज्य सरकारो की समस्या का समाधान हो सके। उन योजनाओ की पूर्ति के लिये राज्य सरकार को भी धन जुटाना पडता है। कुछ राज्यो के साधन अत्यधिक सीमित होते है। अतः उन राज्यो को केन्द्र के अनुदान की आवश्यकता और भी अधिक हो जाती है। मुद्रा पर भी केन्द्र सरकार का नियन्त्रण है। ऋण आदि पर भी केन्द्रीय सरकार का अंकुश रहता है। परिणाम यह होता है कि राज्य सरकारों को केन्द्र की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता है।

11. उपसंहार

संघात्मक शासन-व्यवस्था की सबसे कठिन समस्या संघ तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों का समायोजन करना है। यदि संविधान मे तत्सम्बन्धी उपबन्ध स्पष्ट न हो तो दोनों को अपना दायित्व निभाने में कठिनाई का अनुभव होता है। इसलिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्धों की आवश्यकता अनुभव की ताकि प्रशासनिक क्षेत्र मे संघ तथा राज्यो के मध्य किसी प्रकार का विवाद न हो।

यदि संविधान के व्यवहार का निष्पक्ष रूप से अध्ययन किया जाय तो एक बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है और वह है भारत मे समदीय अर्थात् मन्त्रिमण्डल शासन की सघ तथा राज्यो म दृढ-स्थिति । वास्तव म गम्भीरता से अध्यन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्रीय सरकार का राज्य सरकारो पर नियन्त्रण वास्तविक है, केवल वैधानिक अथवा काल्पनिक नही ।

भारत मे एकात्मक राज्य के लक्षण अधिक प्रभाशाली है । राजनीतिक, वैधानिक व वित्तीय दृष्टि से भारत एक इकाई है । सघात्मक स्वरूप एव राज्यो की स्वायत्तता व्यवहारिक न होकर नाम मात्र की है । केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है । राष्ट्रीय सुरक्षा तथा वित्तीय सहायता का आश्रय लेकर केन्द्र अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है ।

———

धर्मनिरपेक्षता एवं भारतीय संस्कृति

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक-धर्म एव धर्म-निरपेक्ष राज्य की अवधारणाएं
2. धर्म-निपेक्षता-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
3. सविधान मे अन्तर्निहित धर्म-निरपेक्षता के आदर्श
4. धार्मिक विश्वास, आचरण एवं प्रचार प्रसार की स्वतंत्रता
5. धर्म-स्वातन्त्र्य पर सविधानिक नियत्रण
   (i) सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार एव जन स्वास्थ्य
   (ii) समाज-कल्याण एवं समाज-सुधार के कृत्य
   (iii) आर्थिक, राजनीतिक एवं सार्वजनिक गतिविधियां
6. धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतत्रता
7. धार्मिक संस्थाओं की स्थापना एवं उनका पोषण
8. भारतीय संस्कृति-धर्म निरपेक्षता के सन्दर्भ मे
9. धर्म-निरपेक्षता के बाधक तत्व
10. उपसहार।

1 प्रारम्भिक : धर्म एव धर्म-निरपेक्ष राज्य की अवधारणाएं

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है धर्म विच्छेद। क्योंकि धर्म विश्वास और परलोक की चीज है, और धर्म निरपेक्षता, बुद्धी, तर्क, विवेक और संसार की चीज है। निरपेक्षता वादी वह व्यक्ति है जो धर्म और धार्मिक प्रणाली के स्वरूप की और ध्यान न देकर मानव कल्याण की नैतिकता पर आधारित करता है। धर्मों के प्रति धर्म और निरपेक्षता वादी का दृष्टिकोण सहिष्णुता का होता है। धर्म निरपेक्ष साहित्य का अर्थ है ऐसा साहित्य जिसका न तो धर्म से सम्बन्ध होता है और जो न धर्म की निन्दा करता है। धर्म निरपेक्षता शिक्षा का अर्थ है ऐसी शिक्षा पाठ्यक्रम जिसमें धार्मिक शिक्षा प्रदान नही की जाती। राजनीतिक क्षेत्र मे धर्म निरपेक्षता राज्य और धर्म को अलग रखती है। स्पष्ट है कि धर्म निरपेक्षता ऐसा सिद्धान्त है जो राज्य के नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है।

धर्म-स्वातन्त्र्य के सांविधानिक अधिकार पर पूर्णतया प्रकाश डालने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि धर्म क्या है, धर्म का क्या उद्देश्य है व लोकतंत्रीय

जीवन प्रणाली मे धर्म व राज्य के सम्बन्धो को किस भांति व्यवस्थित किया जा सकता है ? हमारे सविधान मे "धर्म" शब्द को परिभाषित नही किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने अपने विभिन्न निर्णयो मे धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे कहा है कि नागरिको की यह स्वतन्त्रता सैद्धान्तिक अथवा विश्वास तक ही सीमित नही है बल्कि इसके अधीन धर्म के अनुसरण मे किये गये समस्त कार्य सम्मिलित होगे, जैसे कर्मकाण्ड, उपासनाओ की विभिन्न पद्धतिया धार्मिक आचरण आदि। धार्मिक आचरण मे शास्त्रोक्त, धर्म, रीतिया, लोकाचार एव पूजा विधिया सम्मिलित की गई है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का अभिप्राय राज्य द्वारा किसी प्रकार का राज्याश्रय नही देने से है। धर्म-निरपेक्ष राज्य पूरी तरह धार्मिक उदासीनता बनाए रखता है लेकिन धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ राज्य का धर्म विरोधी अथवा अधार्मिक होने से नही है। धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो ईश्वर-विहीन (नास्तिक) राज्य है न अधार्मिक राज्य और न ही धर्म विरोधी राज्य है। धर्म निरपेक्ष राज्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अधिकार एव अवसर प्रदान करता है।

2 धर्म निरपेक्षता—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन-काल मे ही भारत मे धार्मिक तत्वो पर विवेचना एव सुधार-आन्दोलन होते आए है। हमारे महर्षियो ने भी हमे बहु देवताओ से भी उच्च एक ऐसे परमेश्वर की धारणा तक उठने का सदेश दिया है जो प्रतिमाओ एव धारणाओ से विलग है, अनुभव होते हुए भी 'अज्ञेय' है, मानवात्मा की जीवन-दृष्टि है। सभी धर्म उसी लक्ष्य की ओर अभिमुख है। अपने इस लक्ष्य के प्रति समस्त धर्मो मे सम्प्रदायातीत ऐक्य है, जो कि उनकी शास्त्रीय विविधता से परे है। किसी धर्म विशेष के अवलम्बन से मुक्ति मिल सकती है, ऐसी बात नही। विलियम लॉ ने अपने ग्रथ—'दि स्पिरिट ऑफ प्रेयर' मे कहा है कि— 'ईश्वर एक है, मानव-प्रकृति एक है और उस पाने का रास्ता भी एक है। और वह है—आत्मा की कामना को परमेश्वर की ओर मोडना, ऐसा करने पर यह कामना सर्वपूर्ण कर देती है। और आत्मा को ईश्वर तक ले जाकर एक जीव कर देती है।" वैदिक धर्मो के पश्चात् बौद्ध, जैन, भागवत आदि धर्मो का प्रचार-प्रसार हुआ। इस काल मे धार्मिक सहिष्णुता पर अधिक बल दिया गया। 'सर्वधर्म' की विचार धारा समभाव को सबल बनाने के लिए प्रयास हुए।

भारत मे अनेक आक्रमणकारी आए, अपनी अपनी विविधता को लेकर, किन्तु सबको हमारी संस्कृति ने अपनी जीवन-दृष्टि से सजोकर अपना बना लिया। साथ ही सबको यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वे अपने अनुकूल, अपनी आस्था के अनुरूप विविध धर्मो को वरण कर सकते हैं, उसके अनुकूल वातावरण का सृजन कर सकते है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि भारतीय संस्कृति मे धर्मो का स्वरूप व्यक्तिगत भले ही रहा, किन्तु, पारस्परिक कटुता कदापि नही रही। भारतीय संस्कृति

की इस धार्मिक विशिष्टता ने सामाजिक सद्भावना को विकसित किया। हिन्दू बौद्ध, यहूदी, इस्लाम आदि सभी धर्मों का एक ही सार है—'परम तत्व की ओर अभिमुख होना'।

महर्षि वात्स्यायन का कथन है—"आर्यानार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम।" अर्थात् वह (ईश्वर) आर्यों एवं अनार्यों दोनों को प्राप्त है। इस्लाम धर्म दूसरे धर्मों के पैगम्बरों के प्रति सम्मान भाव प्रकट करने की सीख देता है। कुरान में कहा गया है—"हम ईश्वर और उसके देवदूतों द्वारा प्रकट की गयी देववाणी में विश्वास रखते हैं।"

वस्तुतः सभी धर्मों के अनुयायियों को उनके धर्म की ओर से ऐसे निर्देश प्राप्त हैं कि उन्हें अपने धर्मों का प्रचार-प्रसार, अन्य धर्मों के प्रति आदर-भाव प्रदर्शित करते हुए करना है। बौद्ध धर्म के प्रचारक एवं शासक 'अशोक' ने कभी भी किसी अन्य धर्मावलम्बियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। हर्षवर्द्धन सभी प्रमुख धर्मों का अनुसरण, उपास्य को प्राप्त करने के लिए, करता था। अकबर ने अपने बहुबल का प्रयोग इस्लाम धर्म के प्रचारार्थ कभी नहीं किया। हिन्दू धर्म के पूज्य राम और कृष्ण ने भी सभी धर्मों के प्रति आदर प्रदर्शित करने का संदेश दिया।

भारत में जब अंग्रेजी-राज्य की स्थापना हुई तब अंग्रेजों ने भारत वासियों पर ईसाई धर्म लादने की कोशिश की; किन्तु हमने उसके प्रति अपना विरोध प्रकट किया और अन्ततः महारानी विक्टोरिया की घोषणा हमारी विजय थी। यद्यपि भारत का विभाजन एवं राष्ट्रपिता गांधी की हत्या—धार्मिक कुंठाओं के ही परिणाम थे तथापि वे भारतीय संस्कृति और उसकी जीवन-दृष्टि के सर्वथा प्रतिकूल थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारे संविधान निर्माताओं ने भारत की धार्मिक सद्भावना और सहिष्णुता का परिचय दिया। धार्मिक तटस्थता भारतीय संविधान का अंग बनी। संविधान के अनुच्छेद 25, 26, 27 एवं 28 में धर्म स्वातंत्र्य के अधिकारों का उल्लेख किया गया।

3. संविधान में अन्तर्निहित धर्म-निरपेक्षता के आदर्श :

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता सम्बन्धी निम्न चार आदर्श दृष्टिगत होते हैं—

(i) राज्य अपने को किसी धर्म-विशेष से सम्बद्ध नहीं करेगा न ही किसी धर्म-विशेष के अधीन रहेगा,

(ii) राज्य जब किसी व्यक्ति को धार्मिक मान्यता, आचरण, एवं प्रचार-प्रसार सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्रदान करेगा तो वह किसी व्यक्ति विशेष को अपेक्षाकृत (Preferential) सुविधा नहीं देगा,

(iii) किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध धर्म अथवा धार्मिक विश्वास के आधार पर राज्य कोई भेदभाव नहीं करेगा,

(iv) राज्य के अधीन किसी पद को प्राप्त करने हेतु सभी धर्मावलम्बियों को समान अवसर प्राप्त होंगे।

उपर्युक्त आदर्शों की समाविष्टि से भारतीय जनता म ब धुत्व की भावना को जागृत करने का सफल प्रयास किया गया है, जिससे व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्रीय एकता के विकास में मदद मिल सकेगी। संविधान की प्रस्तावना मे संकल्पित धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श को क्रियान्वित करने हेतु संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 25 28 तक म विस्तार से उपबन्ध किये है। इनका अध्ययन हम निम्न शीर्षकों व क्रम म करेंगे।

4 धार्मिक विश्वास, आचरण एव प्रचार प्रसार की स्वतन्त्रता

प्रत्येक व्यक्ति को अन्त करण की स्वतन्त्रता व धर्म को अबाध रूप स मानने, आचरण करने एव प्रचार प्रसार करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। लेकिन यह अधिकार सार्वजनिक व्यवस्था, स्वास्थ्य, सदाचार एव मूल अधिकारों से सम्बन्धित अन्य उपबन्धों के अधीन प्राप्त किये जा सकेंगे।

धार्मिक "आचरण' से अभिप्राय धर्म के अनुसार किये गये मानवीय कृत्यों से है। रीति और रस्मों की अनुपालना करना, पूजा के निर्धारित विधियों का पालन करना, विभिन्न पर्वों तथा उत्सवों को मानना "आचरण" मे सम्मिलित किये जा सकेंगे। "प्रचार" शब्द का तात्पर्य धर्म-विरोधी लोगों को अपने धर्म के प्रति आकर्षित करने व अनुरोध करने से है।

धर्म स्वातन्त्र्य सम्बन्धी सांविधानिक संरक्षण के अधीन न केवल धार्मिक सिद्धांत, विश्वास व नैतिक नियम आदि ही आते हैं बल्कि उसम किसी धर्म-विशेष से सम्बन्धित कर्मकाण्ड, समारोह एव पूजा की विधि भी सम्मिलित होगी। भगवान अथवा किसी देवता के निर्धारित समय पर भोग लगाना, पवित्र पुस्तकों का नित्य प्रति पढ़ा जाना, अग्निहोत्र किया जाना आदि समस्त क्रियाओं को धार्मिक आचरण का ही अ ग माना गया है।

संविधान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उसके धार्मिक मतानुसार किये गये प्रत्येक कार्य को संरक्षण प्रदान किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को अन्त करण की स्वतन्त्रता तथा धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने तथा प्रचार करने का अधिकार दिया गया है। अ त करण की स्वतन्त्रता का भावार्थ उन विश्वासों और सिद्धान्तों को अपनाने की स्वतन्त्रता से है जिसे कोई व्यक्ति अपनी आत्म शुद्धि के लिए आवश्यक समझता है। अन्त करण की व्याख्या के सम्बन्ध म सर्वाधिक महत्व का न्यायिक निर्णय रत्तीलाल घनाचन्द गाधी बनाम बम्बई राज्य का मामला है जिसमे उच्चतम न्यायालय ने निम्न विचार अभिव्यक्त किये हैं

हर व्यक्ति का यह मूल अधिकार है कि वह न केवल अपने अन्त करण मे

(ii) समाज कल्याण तथा सामाजिक सुधार के कृत्य :

यदि राज्य द्वारा समाज कल्याण अथवा समाज सुधार के कार्यों के निमित्त किसी विधि की सरचना की जाती है तो ऐसी समस्त विधियां अनुच्छेद 25 (2) (ख) के अधीन वैध स्वीकार की जायेंगी। इसी के अधीन हिन्दुओं के समस्त धार्मिक प्रतिष्ठानों को हिन्दुओं के सभी विभागों व वर्गों के लिए खोलने की व्यवस्था भी सम्मिलित होगी।

(iii) आर्थिक व लौकिक तथा सार्वजनिक गतिविधियां

धार्मिक आचरणों से सम्बन्धित समस्त आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक तथा अन्य लौकिक गतिविधियों के विनियमन हेतु राज्य को अधिकृत किया गया है। दूसरे शब्दों में राज्य को इस सन्दर्भ में विधि निर्मित करने की शक्ति प्रदान की गई है। कौन से कार्य धार्मिक आचरण से सम्बन्धित हैं और कौन से अपवाद के अधीन आते हैं। इसका निर्णय उस धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के तत्व यह निर्धारित करते हैं कि भगवान का प्रतिदिन भोग लगाया जाय, अन्य रस्म अदा की जायें, पवित्र पुस्तकों को प्रतिदिन पढ़ा जाए अथवा अग्निहोत्र दिया जाए, यह स्वाभाविक है कि इन सब धार्मिक कार्यों में अत्यधिक धनराशि की आवश्यकता होगी। उक्त सभी धार्मिक कार्यों के लिए पुजारियों की सेवाओं की आवश्यकता होती है। लेकिन इन्हें धार्मिक आचरण के सम्बन्ध आर्थिक व वित्तीय क्रियायें नहीं माना जा सकता है, ये सभी धार्मिक आचरण के अभिन्न अंग हैं।

मोहम्मद हनीफ कुरेशी बनाम बिहार राज्य—के उपर्युक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि ईद के रोज मुसलमानों द्वारा गाय का बलिदान करना उनके धार्मिक विश्वास के अनुरूप अनिवार्य धार्मिक आचरण सबंधी कृत्य नहीं है अतः राज्य विधि द्वारा नागरिकों के ऐसे कृत्यों को विनियमित कर सकता है तथा इसे नागरिकों के धर्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार का अतिक्रमण नहीं माना जाएगा।

6 धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता

सविधान के अनुच्छेद 26 के अधीन प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय तथा उसके किसी वर्ग को निम्न स्वतन्त्रताओं का अधिकार प्रदान किया गया है—

(क) धार्मिक एव दान-प्रयोजनों जैसी सस्थाओं की स्थापना तथा उनका पोषण,
(ख) धार्मिक कार्यों में अपना स्वय का प्रबन्ध,
(ग) चल एव अचल सम्पत्ति का अर्जन व स्वामित्व ग्रहण करना,
(घ) ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करना।

यहां यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि अनुच्छेद 25 में धार्मिक स्वतन्त्रता का जो मूल अधिकार प्रदान किया गया है वह व्यक्ति को प्रदान किए जाते हैं जबकि अनुच्छेद 26 द्वारा प्रदत्त अधिकार का प्रयोग विभिन्न सस्था जैसे किसी सम्प्रदाय विशेष अथवा उसके किसी विभाग विशेष द्वारा किये जाते हैं। इस प्रकार यह

विभिन्न सम्प्रदायों का एक सामूहिक अधिकार है। अनुच्छेद 26 में न केवल किसी धार्मिक सम्प्रदाय को ही धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया गया है बल्कि उसके किसी सम्बन्धित विभाग अथवा वर्ग को भी यही अधिकार प्राप्त होगा। इस सन्दर्भ में किसी मठ अथवा उसके अधीनस्थ किसी आध्यात्मिक संस्था को भी यही अधिकार प्राप्त होगा।

7. धार्मिक संस्थाओं की स्थापना एवं उनका पोषण :

जिस सम्प्रदाय विशेष द्वारा किसी धार्मिक संस्था को जन्म दिया जाता है उनका यह भी अधिकार है कि वे उसका पोषण भी करें। यदि किसी धार्मिक संस्था की स्थापना संसद अथवा राज्य विधान मण्डल के किसी अधिनियम द्वारा की जाती है तो ऐसी संस्थाओं के पोषण का अधिकार किसी सम्प्रदाय विशेष अथवा किसी वर्ग को प्राप्त नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना एक संसदीय अधिनियम द्वारा की गई है न कि मुसलमानों द्वारा। एतदर्थ मुसलमानों का यह अधिकार नहीं है कि वे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का पोषण अथवा प्रशासन करें। अनुच्छेद धार्मिक सम्प्रदाय अथवा किसी धार्मिक संस्था का उक्त अधिकार केवल धर्म सम्बन्धी विषयों तक ही सीमित होगा। यदि धार्मिक संस्थाओं के किसी धर्म-निरपेक्ष विषय के प्रबन्ध का प्रश्न है तो राज्य को तत्सम्बन्धी व्यवहार को नियमित करने का अधिकार है। लेकिन राज्य धार्मिक विषयों में तब तक किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा जब तक कि उनका प्रयोग जनस्वास्थ्य, सदाचार अथवा लोक व्यवस्था के हितों के विरुद्ध न किया जाता है।

8. भारतीय संस्कृति—धर्म निरपेक्षता के सन्दर्भ में

व्यक्ति आन्तरिक मनन एवं चिन्तन के आधार पर जिन विचारों और सिद्धान्तों को अपने लिए आदर्श और मान्य बना लेता है—वस्तुतः वे ही उसकी संस्कृति है। किसी भी जाति या समाज की संस्कृति—उस जाति या समाज के साथ अटूट सम्बन्ध रखती है। यदि वह जाति अपने प्राचीन सांस्कृतिक-संचय को खो देती है, तो उसके प्राचीन इतिहास के समस्त मान-मूल्य विगलित हो जाते हैं। यों कहें कि उसकी चिर-संचित निधियाँ लुट जाती हैं। तब अपने संग्रह को खोकर वह कब तक स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकती है ?

भारतीय संस्कृति एक विशाल समुद्र की भाँति है जिसमें विविध विशिष्टता युक्त कतिपय सरिताएं संगमित हो सकती हैं। समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर भारतीय संस्कृति एक मत है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर प्राचीन हो रही विषमताओं को दूर कर, उनमें सामञ्जस्य स्थापित किये गये हैं। राष्ट्र कवि दिनकर के शब्दों में—"भारतीय संस्कृति का समन्वय चींटियों द्वारा एकत्रित अनाज के कणों की तरह नहीं है अपितु मधु-मक्खियों द्वारा निर्मित मधु की तरह है, क्योंकि एकत्रित अनाज के कणों में सबका अस्तित्व अलग-अलग दील पड़ता है किन्तु मधु में अलग-अलग फूलों के रसों का समाहार हो जाता है।" वस्तुतः भारतीय संस्कृति में समन्वित सभी तत्त्वों का अपना कोई विलग अस्तित्व नहीं है अपितु वे समन्वित रूप में ही अपनी-अपनी विशिष्टताओं को लेकर उभरते हैं। भारतीय संस्कृति

के सामाजिक व्यक्तित्व मे निहित उदारता का भाव अपने आप म बड़ा ही महत्व रखता है। धार्मिक क्षेत्र मे भी इस उदारता का परिचय हम मिलता है।

विद्वानो ने अपने कथनो द्वारा यही स्पष्ट करना चाहा है कि भारत एक धर्म प्रधान राज्य होते हुए भी किसी धर्म विशेष का पोषक या प्रचारक नही है। डा. राधाकृष्णन ने भी कहा है—"भारत राज्य वास्तविक धार्मिक राज्य है। जो सभी धर्मों के सार मानव-धर्म मे विश्वास रखता है।"

इस प्रकार भारतीय संस्कृति अपनी धार्मिक चेतना को लेकर पूर्णत तटस्थ है। इसकी धर्म निरपेक्षता इसके "विविधता के बीच एकता' के स्वरूप को विकसित करती है। हमारी संस्कृति धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ म पूर्णतया स्वस्थ है, क्योंकि 'हमारे संस्कार एक है, तवर एक है आवाज एक है और साहित्य का अस्तित्व एक है।'

9. धर्म निरपेक्षता मे बाधक तत्व

भारतीय संविधान मे भारत को एक धर्म निरपेक्ष देश घोषित करने के बावजूद देश म पूर्ण धर्म निरपेक्षता स्थापित नही की जा सकी। इसका कारण बाधाओ का उपस्थित होना है, जो कि निम्न है—(1) भारत यद्यपि सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाता है फिर भी जाति और समुदाय के प्रति निष्ठाओ के कारण छोटी सी घटना साम्प्रदायिक दगो को जन्म दे देती है। जैसाकि पिछले वर्ष मे अलीगढ, जमशेदपुर एव अन्य कई मुख्य नगरो मे साम्प्रदायिकता एव हिंसात्मक दगे हुए है जो कि एक धर्म निरपेक्ष राज्य के लिय बाधा उत्पन्न करते हैं (2) जातीय आधार पर सरकार द्वारा सुविधायें प्रदान करना धर्म निरपेक्षता के स्थान पर जातीय भावनाओ को प्रोत्साहन दिया जाना है। जैसे अनुसूचित जाति अनुसूचित जन-जातियों आदि को छात्र वृत्तिया आर्थिक सहायता, नौकरी म सुरक्षित स्थान आदि विशेष सुविधाए जातीय भावना का विकास करत हैं, न कि धर्म निरपेक्षता का। कुछ राजनीतिक दल जनता की भावनाओं को उभाकर, साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाकर चुनाव मे वोट बटोरने की प्रवृत्ति अपनाते है।

यद्यपि उपरोक्त बाधाओ के बावजूद भी भारत म धर्म निरपेक्षता सिद्धात का भविष्य उज्ज्वल ही है। धर्म-निरपेक्षता के सिद्धात म देश का पारस्परिक द्वेष, वैमनस्य, ईर्ष्या और कलह शान्त होते जा रहे हैं। जनता म परस्पर सौहार्द और सद्भावनाए उत्पन्न हो गयी हैं। एक समय आयगा, जबकि देश म से अवशिष्ट मत वैभिन्य भी सर्वदा के लिए समाप्त हो जायगा।

10 उपसहार

प्रत्येक धर्म सार्वभौमिक भ्रातृत्व का प्रचार तो अवश्य करता है, परन्तु मानवता के इतिहास मे धर्म के नाम पर सदा ही विवाद उठत रहे है। इस दृष्टि से गत सहस्त्र वर्षों म भारत विशेष रूप से हतभाग्य रहा है। अग्रेजो ने भी भारत

में अपना शासन बनाए रखने के लिए इस परिस्थिति से खूब उठाया। हम पहले ही देख चुके हैं धर्म के कारण राष्ट्रीय एकता किस प्रकार विच्छिन्न हो गई और कैसे धर्म के आधार पर देश का विभाजन हो गया। किन्तु, धार्मिक अल्पसंख्यकों की समस्या में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया और वह भारत में ज्यों की त्यों बनी रही, पाकिस्तान की स्थापना के उपरान्त भी भारत में चार करोड़ मुसलमान बिखरे पड़े थे, एक करोड़ ईसाई, पचास लाख सिख तथा पारसी, जैन, बौद्ध तथा यहूदी भी थे। सम्पूर्ण जनसंख्या का पचासी प्रतिशत भाग हिन्दू धर्मानुयायी थे। यदि वे प्रतिनिधि संस्थाओं का संचालन एक धार्मिक समूह के रूप में करना चाहते तो वे इच्छानुसार कानून बनाकर प्रशासन यन्त्र पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर सकते थे।

इस प्रकार की प्रवृत्ति से धार्मिक अल्पसंख्यकों का विश्वास शासन से उठ जाता और भारतीय प्रजातन्त्र एक शाब्दिक आडम्बर मात्र ही रह जाता।

इससे बचने के लिए प्रत्याभूत मौलिक अधिकार का आयोजन किया गया। भाषण एवं अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य, संस्था एवं संघ बनाने का अधिकार धार्मिक अर्थों में भी तो प्रयुक्त हो सकते हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों में विश्वास उत्पन्न करने लिए केवल इन उपबन्धों से संविधान सभा सतुष्ट नहीं हुई वरन् धार्मिक स्वतंत्रता से सम्बद्ध एक पृथक अनुच्छेद समूह को उसने अंगीकार किया। अनुच्छेद 25, 26, 27, 28 में जिन स्वतंत्रताओं का उल्लेख है वे बहुत उदार हैं जिससे धार्मिक अल्पसंख्यकों को पूर्ण सन्तोष होगया। वस्तुत: ये अनुच्छेद संविधान सभा द्वारा स्थापित अल्पसंख्यक समिति में लगभग सर्वसम्मति से हुए समझौते का परिणाम है। इस प्रकार के एकमत ने बहुसंख्यकों के प्रति विश्वास एवं समरसता की भावना को जन्म दिया। संविधान की प्रस्तावना में जिस उद्देश्य की घोषणा की गई थी यानी देश के सब नागरिकों को धर्म विश्वास तथा उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करना, उस उद्देश्य को ये अनुच्छेद पूर्ण करते हैं।

भारतीय श्रमिक वर्ग की सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ

सामान्य अवलोकन

1 प्रारम्भिक—देश के नव-निर्माण मे श्रमिको का मूल्यवान योग
2. भारतीय संविधान तथा सामाजिक सुरक्षा
3. श्रमिक क्षतिपूर्ति योजनाएँ
4. कर्मचारी राज्य बीमा योजनाएँ
5. भविष्य निधि योजना
6. प्रसूति प्रसुविधा योजना
7 ले ग्राफ तथा छटनी के समय मुग्रावजे की योजनाएँ
8. उपदान (ग्रेच्यूटी) योजना
9. वृद्धावस्था पेंशन योजनाएँ
10 उपसंहार

1. प्रारम्भिक—देश के नव-निर्माण मे श्रमिको का मूल्यवान योग

मानव जीवन के वृहत् इतिहास मे मनुष्य ने प्रकृति की क्रूरता पर विजय प्राप्त करने एव उसे नियन्त्रण करने मे अत्यन्त प्रशसनीय तथा साहसिक कार्य किये है एव उसे इस ओर आशातीत सफलताएं प्राप्त हुई है, परन्तु मृत्यु पर रोकथाम न उसके सभी प्रयत्न असफल रहे है । यहाँ तक कि मृत्यु को कुछ समय के लिय निष्कासित करना भी उसकी विचार शक्ति के बाहर है । प्राकृतिक प्रकोप मानव जीवन के बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक किसी भी समय सम्भव है अत्पश्चात् उसकी सभी आकांक्षाए उस सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करती हैं जिसमे वह अपना जीवन यापन करता है । मानव जीवन की दूसरी विवशता यह है कि वह अपने समस्त जीवन काल मे उस शक्ति, साहस और द्रुतगति से कार्य नही कर सकता जिस गति से वह अपने युवावस्था मे कार्य करता रहा है । किसी निश्चित् आयु के पश्चात् उसे अपने स्वय के अस्तित्व के लिय भी दूसरो पर निर्भर रहना पडता है । निर्धनता, अस्वस्थता, असाध्य बीमारी, बेरोजगारी तथा औद्योगिक दुर्घटनाओ ने उसे और भी अधिक पराधीन कर दिया है ।

किसी देश के नव-निर्माण में वहां के श्रमिक वर्ग का सर्वाधिक योग होता है। हमारे देश के भौतिक एवं आर्थिक निर्माण में भी यहां के श्रमिकों ने अपना खून पसीना एक किया है। अतएव हमारी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में उसे महत्वपूर्ण स्थान मिलना आवश्यक है। इस दृष्टि से सामाजिक सुरक्षा की योजनाएं न्याय एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित हैं। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री गजेन्द्र गडकर ने राष्ट्रीय श्रम आयोग के प्रतिवेदन में कहा है कि मानव को उसकी यातनाओं से छुटकारा दिलाने एवं उसे सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने की खोज सदियों से जारी है, परन्तु आधुनिक युग में यह करोड़ों स्त्री-पुरुषों के जीवन का एक प्रमुख अंग बन गयी है। अतः सामाजिक सुरक्षा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाना औद्योगिक विधि-शास्त्रियों के चिन्तन का एक महत्वपूर्ण अंग है।

उपरोक्त वस्तु स्थिति के अवलोकन से यह स्पष्ट परिलक्षित है कि सामाजिक सुरक्षा से तात्पर्य एक ऐसी सुरक्षा से है जो कि समाज द्वारा वहां के रहने वाले नागरिकों को प्रदान की जाती है, जिसके फलस्वरूप वह उसके सामने आने वाली यातनाओं से मुक्त हो सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में भारत जैसे कल्याणकारी राज्य के लिये सामाजिक सुरक्षा एक आधारभूत नीति है एवं इस देश की आर्थिक नीतियों पर आवश्यक रूप से प्रभाव डालती है।

हमारे देश के अतीत में सामाजिक सुरक्षा के अनेकों दृश्य देखने को मिलते हैं, जैसे गांवों की स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, संयुक्त परिवार व्यवस्था तथा दान-दक्षिणा इत्यादि इत्यादि। परन्तु गांवों का यह प्राचीन स्वावलम्बन औद्योगिक विकास एवं यातायात के सुगम साधनों के परिणामस्वरूप आज समाप्त-प्रायः दृष्टिगत होता है।

2. भारतीय संविधान तथा सामाजिक सुरक्षा

26 जनवरी 1950 की पुनीत वेला में भारत एक लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मानचित्र पर उदय हुआ तथा उसी दिन हमारे गणमान्य नेताओं एवम् विधि-वेत्ताओं ने एक नया संविधान देश के नागरिकों के समक्ष प्रस्तुत किया। भारतीय संविधान के चतुर्थ भाग में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के रूप में एक कल्याणकारी राज्य के आदर्श समाहित किये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 41, 42, एवं 43 में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी निर्देशनों का प्रावधान है जिसके अन्तर्गत राज्य का यह दायित्व है कि वह अपने नागरिकों के रोजगार एवं समुचित शिक्षा की व्यवस्था करे तथा ऐसे समय पर उनकी सहायता प्रदान करे जिस समय वह बेरोजगारी, अस्वस्थता, लम्बी बीमारी तथा वृद्धावस्था जैसे संकटों से ग्रसित हो। अतः यह स्पष्ट परिलक्षित है कि वर्तमान सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सभी कानूनों का उद्गम स्थल हमारे संविधान के नीति निर्देशक तत्व है। स्वाधीनता

प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् भारत सरकार ने सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी अनेक कानून पारित किये हैं जिनका संक्षिप्त अध्ययन उक्त विषय के संदर्भ में आवश्यक है।

3. श्रमिक क्षतिपूर्ति योजनाएँ

कारखानों तथा अन्य औद्योगिक संस्थानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये हमारे यहाँ सन् 1923 में ही एक अधिनियम पारित कर दिया था जिसके अन्तर्गत कारखानों में होने वाली दुर्घटनाओं के समय पर श्रमिकों को मुआवजा प्रदान किया जाता रहा है। सन् 1923 से अब तक अधिनियम में लगभग पन्द्रह बार संशोधन किये गये हैं जिसके फलस्वरूप इस अधिनियम का स्वरूप आज काफी विस्तृत हो गया है। प्रारम्भ में 500 रु तक माहवार मजदूरी पाने वाले श्रमिकों को इस अधिनियम के अन्तर्गत मुआवजा दिया जाता था। इस अधिनियम में संशोधन कर 1 अक्टूबर 1975 से 1000 रुपया तक माहवार मजदूरी पाने वाले श्रमिकों को मुआवजा देने का प्रावधान किया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्वयं श्रमिकों को या दुर्घटनाओं में मृत्यु होने पर उनके आश्रितों को क्षतिपूर्ति हेतु धनराशि प्राप्त हो जाती है। उक्त अधिनियम में कारखानों में होने वाली बीमारियों के फलस्वरूप मृत्यु होने पर उसे 30,000 रुपये तक की अधिकतम धनराशि मुआवजा के रूप में देने का प्रावधान है। इसी भाँति दुर्घटना से यदि श्रमिक भविष्य में कार्य करने में पूर्णरूप से असमर्थ होता है तो उसे 42,000 रुपये तक की अधिकतम धनराशि देने का प्रावधान है। आंशिक असमर्थता पर दुर्घटना से हुई क्षति के अनुपात में मुआवजा देने का प्रावधान उक्त अधिनियम में किया गया है।

4. कर्मचारी राज्य बीमा योजनाएँ

सामाजिक सुरक्षा को और अधिक मूर्तरूप देने के लिये ब्रिटिश सरकार ने सन् 1942 में अदारकर समिति की नियुक्ति की। अदारकर समिति के प्रतिवेदन तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सिफारिशों के आधार पर 6 नवम्बर 1946 को भारतीय विधान सभा में एक बिल प्रस्तुत किया। यह बिल 19 अप्रैल 1948 को भारतीय संसद द्वारा कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम 1948 के रूप में पारित किया। इस अधिनियम को भारत का ही नहीं अपितु समस्त दक्षिण पूर्व एशिया का सबसे बड़ा सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी प्रोग्राम माना जाता है।

तथाकथित अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों को पाँच प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। बीमारी के समय प्राप्त होने वाली सुविधायें, प्रसूति काल के समय प्राप्त होने वाली सुविधायें, क्षतिग्रस्त होने पर मिलने वाली सुविधायें, श्रमिक की मृत्यु के उपरान्त मिलने वाली सुविधायें तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें। इन योजनाओं को सुचारू रूप से चलाने का प्रशासनिक दायित्व केन्द्रीय स्तर पर कर्मचारी राज्य बीमा निगम पर है। इस अधिनियम के अन्तर्गत 1000 रुपये माहवार

तक प्राप्त करने वाले श्रमिकों को ही उपरोक्त सुविधायें प्राप्त होती हैं। लेकिन यह सभी सुविधायें बिना किसी वेतन राशि की सीमा के सभी श्रमिकों को प्रदान करने का सुझाव प्राय: सभी ओर से आया है तथा आवश्यक प्रतीत होता है।

5. भविष्य निधि योजना

भारतीय संसद ने भविष्य निधि योजनाओं से सम्बन्धित प्रथम अधिनियम सन् 1948 में पारित किया जिसके अन्तर्गत कोयला खानों में काम करने वाले श्रमिकों को लाभ प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ। इस अधिनियम के परिणाम काफी अच्छे प्रतीत हुये अतएव इस योजना को और विस्तृत रूप देने पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ एवं सन् 1952 में केन्द्रीय सरकार ने इस संदर्भ में कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के पारित होने के तुरन्त पश्चात् राज्य सरकारों ने भी भविष्य निधि अधिनियम पारित किये है। कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम 1952 के अन्तर्गत करीब 120 औद्योगिक संस्थानों में भविष्य निधि की योजनाएं प्रचलित हैं। इस अधिनियम में 1956 में संशोधन कर इस योजना को और भी विस्तृत रूप दे दिया गया है जिसके अन्तर्गत चाय के बागानों, कोयला खानों एवं अन्य वाणिज्य संस्थानों में कार्य करने वाले श्रमिकों को भी इस योजना के कार्यान्वियन से लाभ होगा।

6 प्रसूति प्रसुविधा योजनाएं

इस योजना के अन्तर्गत आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तामिलनाडू एवम् उत्तर प्रदेश आदि राज्यों ने राज्य स्तरीय अधिनियम बहुत पहिले से लागू कर रखे है जिसके फलस्वरूप प्रसूतिकाल की अवधि में महिला श्रमिकों को धनराशि देने का प्रावधान है। कुछ राज्यों ने मेडीकल सहायता एवम् बोनस तक देने का प्रावधान रखा है। प्रसूति काल में आवश्यक रूप से अवकाश प्रदान करने का प्रावधान भी राज्यों के तथाकथित अधिनियमों में विद्यमान है। लेकिन इन राज्यों के इन अधिनियमों में एकरूपता का अभाव होने के कारण भारतीय संसद में सन् 1961 में प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम पारित किया है।

प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961 के अन्तर्गत एक महिला श्रमिक को अपने 3 माह के औसतन प्रतिदिन का वेतन प्रदान कराने का प्रावधान है। मेडीकलन बोनस के रूप में 25 रुपये तक की राशि प्रदान करने का प्रावधान अधिनियम में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त बच्चा पैदा होने के 6 सप्ताह बाद तक अवकाश प्रदान करने का प्रावधान भी तथाकथित अधिनियम में है। अधिनियम में इस बात का भी प्रावधान रखा गया है कि प्रसूति अवकाश की अवधि में नियोजक ऐसे महिला श्रमिक को सेवा से मुक्त नहीं कर सकता है। इस अधिनियम के पारित होने के पश्चात् राज्य सरकारों ने इसका अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया है तथा इसके फलस्वरूप राज्यों के तथाकथित अधिनियमों में काफी मात्रा में संशोधन हो चुके हैं।

7. ले ग्राफ तथा छटनी के समय मुआवजे की योजनाएँ

भारतीय श्रमिको को ले ग्राफ तथा छटनी के समय नियोजको द्वारा मुआवजा दिलाने के लिये भारतीय ससद ने औद्योगिक विवाद अधीनियम, 1947 म सशोधन किया तथा सन 1943 म उक्त अधिनियम मे एक नया अध्याय जोडा गया जो कि सामाजिक न्याय एव सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्तो पर आधारित है। यह मुआवजा नियोजको द्वारा मास्टर रोल म वर्णित सभी श्रमिको को प्राप्त होना है। लेकिन बदली पर कार्य करने वाले श्रमिको को तथाकथित मुआवजा नही मिलता है। ले ग्राफ तथा छटनी की स्थिति म श्रमिको को मिलने वाले मुआवजे की राशि भिन्न तरीका से प्राप्त होती है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने अपने प्रतिवेदन म ले ग्राफ छटनी सम्बन्धी मुआवजे के स्थान पर बेरोजगारी बीमा योजना का विकल्प प्रस्तुत किया है जो कि पश्चिम के विकासशील देशो म आज विद्यमान है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम सन् 1947 म हाल ही म एक और महत्वपूर्ण सशोधन किया गया है जिसके फलस्वरूप उन औद्योगिक सस्थाना के नियोजको को आवश्यक रूप से उपयुक्त सरकार को पूर्व म सूचित कर अनुमति प्राप्त करनी होगी जहा 300 या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हैं और जहा नियोजक ले-ग्राफ, छटनी, ताला बन्दी व औद्योगिक प्रतिष्ठाना को बन्द करने जैसी कार्यवाही करना चाहते हो।

8 उपदान (ग्रेच्युटी) योजनाएँ

सन 1972 का वर्ष सामाजिक सुरक्षा के इतिहास म एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस वर्ष म भारतीय ससद ने ग्रेच्युटी अधिनियम पारित कर देश के करोडो मजदूरो को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कारखानो, कोयल आदि की खाना, तेल निकालने के स्थानो, बन्दरगाहो, रेल्वे कम्पनियो, दुकानो एव अन्य सस्थाना जिसम 10 या इससे अधिक कर्मचारी कार्य करते हैं, उनको सेवाकाल से निवृत्त होने के पश्चात् भिन भिन राशि प्रदान करने का प्रावधान है। इस अधिनियम के अन्तर्गत 1000 रुपये तक मासिक वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारियो को उपदान (ग्रेच्युटी) की धनराशि प्राप्त हो सकगी। उपदान की यह धनराशि स्वेच्छापूर्वक इस्तिफा देने पर, श्रमिक की मृत्यु पर, दुर्घटना या बीमारी के फलस्वरूप कार्य करने मे असमर्थ होने पर एव एक निश्चित आयु के पश्चात् श्रमिक को प्राप्त होती है।

9 वृद्धावस्था पेंशन योजनाएँ

कुछ राज्य सरकारो ने जैसे उत्तर प्रदेश, केरल, आन्ध्र प्रदेश, तामिलनाडू, पजाब, पश्चिमी बगाल एव राजस्थान आदि ने वृद्ध स्त्री पुरुषो के लिये पेंशन की योजनाए प्रचलित की हैं। इन योजनाओ को अभी सभी राज्य सरकारो ने कानूनी रूप नही दिया है। इन योजनाओ के अन्तर्गत समाज के ऐसे स्त्री-पुरुषो को पेंशन

प्रदान की जाती है जिनकी आयु 60 वर्ष या उससे अधिक है एवम् जिनके पास आमदनी का कोई साधन नही है, न ही उनके कोई ऐसा सम्बन्धी है जो उनको आर्थिक सहायता प्रदान कर सके। ऐसी योजनाएं सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ न होकर सामाजिक सहायता के नाम से पुकारी जाती है। इन योजनाओ के अन्तर्गत 12 रुपये प्रतिमाह से लेकर 35/- रुपये प्रति माह तक राशि प्रदान करने का प्रावधान है। यह राशि आज के मंहगाई के युग मे बहुत ही कम है एव इस राशि को बढ़ाया जाना नितान्त आवश्यक है।

10. उपसहार

सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सभी योजनाओं पर संक्षिप्त अध्ययन क पश्चात् यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इनसे भारत की विशाल जनसंख्या के कुछ ही अंश को लाभ प्राप्त हुआ है देश की जनसंख्या के एक बड़े भाग को सामाजिक सुरक्षा का संरक्षण अभी प्राप्त नहीं हुआ है जो कि आज कृषि, घरेलू कार्य, गृह उद्योग, शिल्प कला एव असंगठित क्षेत्रों मे कार्य कर रहा है। समाज के ये लोग उस समय असहाय प्रतीत होते हैं जिस समय उन पर प्रकृति का क्रूर प्रहार होता है, या जो बेरोजगार होते है अथवा जो वृद्धावस्था के कारण कार्य करने मे असमर्थ है। नियोजित सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का उद्देश्य समाज के सभी वर्गों को उनकी विकट स्थिति म सहायता प्रदान करना है ताकि विभिन्न राजकीय एवं निजी औद्योगिक तथा अन्य सस्थानो मे कार्य करने वाले श्रमिक राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा के पुनीत कार्य में अलगाव महसूस न कर सकें। भारतीय श्रम आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में मुख्य सिफारिश के रूप मे लिखा है कि सामाजिक सुरक्षा का आदर्श स्वरूप वह है जिसके अन्तर्गत समाज के सभी व्यक्तियो द्वारा एक सामाजिक सुरक्षाकोष की स्थापना की जाय एवं इस कोष से सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत चाही गई राशि प्रदान करने का प्रावधान हो। प्रतिवेदन मे यह भी सिफारिश की गयी है कि सामाजिक सुरक्षा कोष के लिए धनराशि संचित करने के लिये श्रमिकों, नियोजकों, राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार सभी को किसी निश्चित अनुपात में धनराशि उपलब्ध करानी होगी।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि श्रम आयोग की उक्त सिफारिश को मूर्त एव व्यावहारिक रूप दिया जाय तथा सामाजिक सुरक्षा को नियोजित, व्यवस्थित एव सगठित रूप से प्रभावशाली बनाया जावे। यद्यपि हमारे देश की वर्तमान अर्थव्यवस्था मे समस्त नागरिको के लिये 'बेवरेज प्लान' जैसी एक सर्व-सम्पन्न सामाजिक सुरक्षा का एक प्रारूप ही दौर मे क्रियान्वित नही किया जा सकता, परन्तु हमे सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को विभिन्न पहलुओ में देश की अर्थ-व्यवस्था में स्वीकार करना चाहिये।

पंजाब की विषम धार्मिक एवं राजनीतिक समस्या

सामान्य अवलोकन

1 प्रारम्भिक—इस समस्या का अभी कोई समाधान नहीं
2 पजाब समस्या का भौगोलिक एव राजनीतिक आधार
3 उग्रपन्थियो की भूमिका—खालिस्तान की माग
4 अकाली दल की भूमिका
5 हिसा का ताण्डव नृत्य
6 दिल्ली मे सविधान का जलाया जाना
7 केन्द्र सरकार का दृष्टिकोण
8 धार्मिक स्थलो का दुरुपयोग
9 समस्या के दूरगामी दुष्प्रभाव
10 पजाब समस्या के समाधान मे कतिपय सुझाव
11 उपसहार ।

1 प्रारम्भिक—समस्या का अभी कोई समाधान नहीं

पजाब म जो घटनाक्रम चल रह है, उनमे समूचा देश चितित है। सिख समुदाय बहुत ही व्यथित तथा क्षुब्ध है और इसके परिणामस्वरूप उग्रवाद का विचार-धारात्मक आधार बढा है, हालाकि बडी सख्या म आतकवादियो को या तो खत्म किया जा चुका है या पकडा जा चुका है। नरमपथी अकाली नेतृत्व अलग-अलग पड गया है। और इस समय बातचीत करने की स्थिति मे नही है। हिन्दू-सिख ध्रुवी-करण तीखा होता जा रहा है। पाकिस्तान से लगी सीमाओ वाले इस प्रा त म स्थिति नि सन्देह बहुत ही गम्भीर और खतरनाक है। साम्राज्यवादियो के लिए यह स्थिति बहुत लाभप्रद है जो देश की एकता और अखण्डता का तोडने के लिए तुले हुए है।

लगभग पिछले तीन वर्ष से पजाब मे निरन्तर अशान्ति और तनाव का वातावरण बना हुआ है। इस लम्बे अर्से के बीच भारत सरकार का तथा अकाली दल के नेताओ के बीच अनेक बार बातचीत हुई है किन्तु इनका कुछ परिणाम नही निकल पाया और हिंसक घटनाए दिन-प्रतिदिन बढती गई। इस बीच अमेरिका द्वारा भारी मात्रा म आधुनिक हथियार देने के कारण पिछले दिनो भारत और

पाकिस्तान के बीच तनाव में भी वृद्धि हुई है। इन समस्त पृष्ठभूमियों में पंजाब की अशान्ति सारे भारत की अशान्ति का विषय बन गया। इससे सारे देश की सुरक्षा के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। समय की पुकार है कि देश का प्रत्येक नागरिक हालात को समझे और उसका सही दिशा में समाधान खोजे।

2. पंजाब-समस्या का भौगोलिक एवं राजनीतिक आधार :

देश के भौगोलिक मानचित्र पर पंजाब की स्थिति इस प्रकार है : इसके दक्षिण में राजस्थान तथा हरियाणा अवस्थित है। इसके पश्चिमी सीमा पर पाकिस्तान, उत्तर में जम्मू-कश्मीर, उत्तर-पूर्व में हिमाचल प्रदेश स्थित है। पंजाबी भाषा का इस प्रान्त के पुनर्गठन में महत्वपूर्ण योग है। धार्मिक दृष्टि से सिख सम्प्रदाय तथा धर्म को मानने वालों का बाहुल्य है। सर्वप्रथम सिख धर्म को एक नवीन धार्मिक पंथ के रूप में गुरु नानक ने प्रतिष्ठापित किया था। ब्रिटिश भारत में पंजाब का विलय लार्ड डलहौजी द्वारा किया गया था। 1937 में पंजाब को एक पृथक राज्य के रूप में स्थापित किया गया था। सन् 1947 में विभाजन के समय तत्कालीन समूचे पंजाब को पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाब के रूप में विभाजित कर पश्चिमी पंजाब को पाकिस्तान को सुपुर्द कर दिया गया। एक नवम्बर 1966 को समूचे पंजाब को तीन इकाइयों में विभाजित किया गया। पंजाब जिसमें पंजाबी भाषा-भाषियों का बाहुल्य था। हरियाणा में मुख्यतया हिन्दी भाषी नागरिकों का बाहुल्य था। चण्डीगढ़ को दोनों राज्यों की राजधानी बनाया गया एवं उस पर केन्द्र का प्रशासन प्रतिष्ठापित किया गया।

पंजाब समस्या का राजनीतिक आधार वहां सिख राजनीतिक महत्वाकांक्षा है। सर्वप्रथम प्रतापसिंह कैरों के मुख्यमन्त्रित्व काल में ही सिख राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बल मिला। पंजाब द्वारा केन्द्र से अपनी विशिष्ट धार्मिक तथा सांस्कृति की मांग को प्रमुख आधार मानते हुए पंजाबी को मान्यता प्रदान करने की मांग की गई। निम्न पृष्ठों के सूक्ष्म अध्ययन से यह बात और अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

3. उग्रपंथियों की भूमिका—खालिस्तान की मांग :

समस्या का मूल और पंजाब की हालत में निरन्तर गिरावट का मुख्य कारण उग्रपंथी अकाली हैं। सन्त जरनैलसिंह भिण्डरवाला के नेतृत्व में पंजाब में उग्रपंथियों की एक बड़ी जमात पैदा हो गई है और दुर्भाग्यवश इनका प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। उग्रपंथियों के दल के कारण ही अकाली दल नयी-नयी मांगें उठाता रहा है। सन्त भिण्डरवाला पंजाब के लिए पूरी स्वतन्त्रता चाहते थे। उनका विश्वास हिंसापूर्ण आन्दोलन में था। उनके उत्तेजित भाषणों के कारण पंजाब में हिंसा का वातावरण एवं तनाव में बहुत वृद्धि हुई है तथा हजारों निर्दोष व्यक्ति अपने प्राण गवा चुके हैं।

उग्रपंथी गतिविधियों के अतिरिक्त कुछ सिख स्वतन्त्र खालिस्तान की माग कर रहे हैं। डा. जगजीतसिंह काफी लम्बे अर्से से अमरिका, कनाडा तथा इंगलैण्ड में खालिस्तान की माग का समर्थन करते रहे हैं। पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी ताकतें भी अप्रत्यक्ष रूप से खालिस्तान की माग का समर्थन करते हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि अकालीदल के अध्यक्ष संत लौंगोवाल ने स्पष्ट रूप से खालिस्तान की माग का स्वतन्त्र एव खुले रूप से विरोध किया है।

यह सन्देह किया जाता है कि स्वतन्त्रता सेनानी लाला जगत नारायण की हत्या के पीछे भिण्डरवाला का हाथ था। सरकार ने एक बार भिण्डरवाला को गिरफ्तार करके उसे छोड़ भी दिया। परिणामस्वरूप, उग्रपंथियों को बहुत बल मिला और समूचे पंजाब में हिंसात्मक घटनाएं घटती गई। जब पंजाब में स्थिति भयावह हो गई तो अक्टूबर 1983 में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया लेकिन स्थिति में फिर भी सुधार नहीं हुआ।

4 अकाली दल की भूमिका

वर्तमान आंदोलन के दौरान अकाली पार्टी अपने आप को उग्रपंथियों की गतिविधियों से अलग करती रही है जो निर्दोष लोगों की हत्याएं कर रहे थे, लूट-मार कर रहे थे और डाके डाल रहे थे, लेकिन वे जानते थे कि उग्रवादी स्वर्ण मंदिर परिसर से कार्रवाइया कर रहे हैं। स्वर्ण मंदिर के परिसर में उग्रवादी प्रेस कान्फ्रेंस कर रहे थे। गुरुद्वारों के मंचों का लोगों को बदले के लिए भड़काने के लिए इस्तेमाल कर रहे थे और खुले तौर पर धार्मिक स्थानों का अनुचित ढंग से प्रचार कर रहे थे। उन्होंने खालिस्तान के संविधान की घोषणा की और उसका 'झंडा' फहराया। ये सारी राष्ट्रविरोधी कार्यवाहिया गुरुद्वारों की पवित्रता को सरासर अनदेखी करके की जा रही थीं। 1921 से लेकर अब तक के गुरुद्वारा प्रबंध के इतिहास में इससे पहले कभी ऐसा नहीं हुआ कि आधुनिकतम हथियारों के जखीरे इकट्ठे कर गुरुद्वारों को शस्त्रागारों में बदल दिया गया हो, जहां अकाली नेता गुरुद्वारा में पुलिस के प्रवेश का विरोध कर रहे थे वहीं क्या यह भी उनका दायित्व नहीं था कि गुरुद्वारों में अपराधियों को शरण लेने तथा उनके परिसरों को हर तरह के हथियारों का अड्डा बनाये जाने की इजाजत न दें? क्या यह स्वर्ण मंदिर की प्रतिष्ठा के अनुकूल था? इस सब की अनदेखी क्यों की गयी? स्वर्ण मंदिर में मशीनगनें लगाये जाने की इजाजत किसने दी? अकाली नेतृत्व दावा कर रहा था कि उनका आंदोलन शान्तिपूर्ण है लेकिन, निर्दोष लोगों के खिलाफ हिंसा पर आधारित इसी परिसर से जारी समानान्तर आंदोलन के बारे में उनको क्या कहना है, जिसकी उन्होंने खुलकर भर्त्सना तक नहीं की? सचाई यह है कि जब उग्रवादी रंगे हाथों पकड़े भी गये तब भी अकाली नेताओं ने निर्दोष बताकर उन्हें बचाने की कोशिश की। उन्होंने स्वर्ण मंदिर तथा गुरुद्वारों में हथियार जमा किए जाने तथा

अपराधियों को शरण दिये जाने से इंकार किया। हम जानते है कि संत लौंगोवाल तथा भिंडरावाले में कोई अच्छे सम्बन्ध नहीं थे और प्रकाश सिंह बादल तक का नाम उग्रवादियों की 'हिट लिस्ट' में था लेकिन किसी की इतनी हिम्मत नहीं हुई कि स्वर्ण मंदिर की पवित्रता की रक्षा करने तथा उसे राष्ट्रविरोधी शक्तियों से मुक्त कराने पर दृढ़ रहता। इसके विपरीत आंदोलन को उग्रवादियों के हाथों में चले जाने दिया गया।

मास्टर तारा सिंह लगभग चार दशक तक शिरोमणि अकाली दल के नेता रहे थे। उन्होंने अनेक मोर्चों का नेतृत्व किया था। आपात स्थिति के दौरान खुद संत लौंगोवाल ने सफलता के साथ तानाशाहीपूर्ण निजाम के खिलाफ आंदोलन का नेतृत्व किया था। इसके लिए उन्हें सारी जनता की हमदर्दी तथा उसका समर्थन मिला था।

5. हिंसा का ताण्डव-नृत्य

पिछले दो-ढाई साल के दौरान पंजाब के लोग जब भी किसी काम को बाहर निकलते तो अपनी जान हथेली पर रखकर। इस बात की कोई गारण्टी नहीं थी कि वे सकुशल लौट आयेंगे। लोगों को घरों में जा कर मारा गया, सिर्फ इसलिए कि उन्होंने साम्प्रदायिक सौहार्द की वकालत की थी। संसद सदस्य डा. वी. एन. तिवारी वाली घटना की हम सबको जानकारी है। ऐसे जघन्य अपराध करने वालों ने नई दिल्ली को भी नहीं बख्शा। उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय के निकट मनचन्दा की हत्या कर दी।

जालन्धर में उन्होंने स्व. लाला जगत नारायण के पुत्र सम्पादक रमेश चन्द्र की हत्या की। खुद लालाजी उग्रवादियों की गोलियों के शिकार हुए थे।

आतंक का यह राज्य कब तक चल सकता था। उग्रवादियों से निपटने में पंजाब पुलिस अक्षम सिद्ध हो चुकी थी। भिंडरावाला ने स्वर्णमन्दिर-परिसर में जैसे हथियार जमा कर रखे थे, वैसे हथियार सी. आर. पी. और बी. एस. एफ. के पास भी नहीं थे।

6. दिल्ली में संविधान का जलाया जाना :

27 फरवरी को दिल्ली भर में तनाव था, अटकलें लगायी जा रही थीं कि क्या अकाली संसद के समक्ष या उसके आसपास संविधान के अनुच्छेद 25 को जलाने में कामयाब होंगे ? उस समय अलबत्ता दिल्ली पुलिस में खलबली मच गयी जब पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री प्रकाशसिंह बादल भारी बंदोबस्त और चौकसी के बावजूद सोमवार तड़के दिल्ली पहुँचने में सफल हो गये।

दिल्ली पुलिस की इस नाकामयाबी पर पुलिस मुख्यालय में तनाव था और गृहमंत्रालय बार-बार उनकी इस चूक पर जवाब-तलबी कर रहा था। बादल के

दिल्ली और उसके बाद गुरुद्वारा बगलासाहब पहुँचने की खबर आनन फानन मे मिखो और कुछ हद तक पत्रकारो को मिल गयी थी, लेकिन बादल के साथ सविधान का अनुच्छेद 25 जलाने पर मूल रूप से निश्चित चार व्यक्तियो को चडीगढ मे ही हिरासत मे ले लिया गया था ।

बगलासाहब गुरुद्वारे के आसपास दिल्ली पुलिस की घेराबदी बादल के पहुचने के बाद और सख्त हो गयी थी, यहा तक कि नियमित तौर पर वहा आने वाले दर्शनार्थियो को भी दिक्कत पेश आयी पत्रकारो को खासतौर पर बादल से मिलने से रोका गया, लेकिन बाबा खडगसिह मार्ग के खुले रास्ते से वे भी श्रद्धालुओ के साथ भीतर पहुचने म सफल हो गये ।

सविधान के 25 वें अनुच्छेद का वह अ श जिस पर अकाली दल को आपत्ति है—

'व्याख्या 11 खड (2) के उपखण्ड (ख) मे हिन्दू शब्द मे सिख, जैन या बौद्ध धर्मो को मानने वाले व्यक्ति भी शामिल माने जायेंगे और हिन्दू धार्मिक सस्थाओ से भी इसी प्रकार का आशय होगा ।

अकाली दल 'सिख' शब्द को यहा से निकालने की माग करता है ।

28 फरवरी को प्रधानमत्री श्रीमती गाधी ने राज्य सभा की बहस मे भाग लेते हुए कहा कि वस्तुत अकालियो के ही आग्रह पर अनुच्छेद 25 म 'सिख' शब्द जोडा गया था । उन्होने कहा कि इस आशय का एक समझौता अकाली नेता मास्टर तारासिह और सरदार पटेल मे हुआ था । "सिख" शब्द इस अनुच्छेद म सम्मिलित करने के पीछे तर्क यह था कि सिखो के सभी पीडित वर्गो को वे सभी रियायतें मिल सकें जो हिन्दुओ के ऐसे वर्गो को उपलब्ध हैं ।

7. केन्द्र सरकार का दृष्टिकोण

हालत यह हो गयी है कि सरकार को अकालिया पर और अकालियो को सरकार पर भरोसा नही रहा । लिहाजा अकालियो ने 'एशियाड' के अवसर पर गिरफ्तारी देने का फैसला किया । एक बार फिर मध्यस्थो को सक्रिय किया गया । लेकिन इस पर अकाली अड गए । लुक-छिप कर कुछ लोग दिल्ली पहुचे भी, लेकिन स्थिति अधिक नही बिगडी । जब अकालियो का आन्दोलन शैतान की आत की तरह बढना शुरू हो गया तो सरकार ने लगता है इसकी गम्भीरता को समझा और *एक मन्त्रिमण्डलीय समिति का गठन किया जिसमे रेलमन्त्री पी शिवशकर, विदेश-*मन्त्री पी वी नरसिहराव आदि प्रमुख व्यक्ति थे । प्रतिपक्ष को भी बाद मे वार्ता मे शामिल किया गया । त्रिपक्षीय वार्ताएँ हुई और कई बार समाधान के बहुत निकट भी पहुचते रहे । लेकिन चण्डीगढ पर आकर गाडी अटक जाया करती थी । सरकार 1970 की लीक पीटती रही, जिसके अन्तर्गत पजाब को देने के एवज मे अबोहर और फाजिल्का हरियाणा को जाना चाहिये । अकालियो को यह गवारा न था ।

दरअसल इसी एक मुद्दे पर सरकार के 'हठीले रुख' ने स्थिति को उलझाया। यदि वास्तविक और लचीला दृष्टिकोण अपनाया जाता जो प्रधानमन्त्री ने जून में अपने प्रसारण में अपनाया था तो न इतनी तबाही होती और न सिखों की भावनाओं को ठेस पहुंचती।

शुरू में भिंडरवाले के दबाव में आकर अकालियों ने 45 मांगों का एक चार्टर सामने रखा जो आनन्दपुर साहब के नाम से जाना जाता है। उन्हें मनवाने के लिए 3 अगस्त 1982 को 'धर्मयुद्ध' के नाम से मोर्चा शुरू हुआ, जिसमें लोगों ने गिरफ्तारियाँ दीं। लोगों के यानी उदार सिखों के समझाने बुझाने से 45 मांगों के स्थान पर दस मांगें रह गईं जिनमें चार धार्मिक थीं और छह का सम्बन्ध पंजाबियों से था। धार्मिक मांगें मान कर प्रधानमन्त्री ने अपनी उदारता का परिचय दिया, लेकिन उन पर अमल न होने से स्थिति उलझ गई। सरकार प्रशासनिक समझौते का प्रयास करती रही, जबकि इसके साथ राजनीतिक प्रयास भी होने चाहिये थे।

हालांकि अब आंतकवादियों को स्वर्णमन्दिर तथा अन्य स्थानों से खोज-खोजकर निकाला गया है एवं निकाला जा रहा है, लेकिन इससे धार्मिक भावनाएं और अधिक भड़की हैं। ये भावनाएं अधिक खतरनाक हैं जो नई तरह के आतंकवाद को जन्म दे सकती हैं। अतः केन्द्रीय सरकार को चाहिए समय रहते पंजाब की समस्या का सही एवं दृढ़ समाधान ढूंढ़ले।

राष्ट्रपति ज्ञानि जैलसिंह की राष्ट्र के नाम अपील से स्थिति में सुधार आयेगा लेकिन उसमें देर लगेगी। जो अपील राष्ट्रपति ने राष्ट्र के नाम घटना के 10 दिन बाद की, यदि वह पहले की गई होती तो उसका असर पड़ता। प्रधानमन्त्री को भी रेडियो और टेलिविजन पर आना चाहिए था।

8. धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग .

आधुनिकतम हथियारों के भारी तस्वीरें और सीधे अकाल तख्त के केन्द्रीय कक्ष से खुलने वाले भूमिगत सुरंगों, सेनहालों तथा बंकरों के जाल की जानकारी सामने आने से हर आस्तिक का सिर शर्म से झुक जायेगा, क्योंकि उग्रपंथियों ने जो खुलेआम निर्दोष लोगों की हत्याओं की वकालत कर रहे थे, स्वर्ण मन्दिर जैसे धार्मिक स्थलों को अपने शस्त्रागार में तब्दील कर दिया था। उग्रपंथी चाहते थे कि सेना स्वर्ण मंदिर को उड़ा दे ताकि उन्हें खालिस्तान के अपने शरारतपूर्ण नारे के पीछे कतारबद्ध करने का मौका मिल जाये, दुर्भाग्य की बात है कि लोग अभी तक यह नहीं देख पा रहे हैं कि उग्रपंथी किस तरह गुरुद्वारे की पवित्रता नष्ट कर रहे थे। जब यह सच्चाई जनता के सामने आएगी कि गुरुद्वारे में क्या कुछ हो रहा था तो सारे समुदाय का सिर शर्म से झुक जायेगा।

इस समय इस पर बहस करने का कोई फायदा नहीं है कि उग्रपंथियों को बाहर निकालने तथा कानून व्यवस्था स्थापित करने के लिए सेना का उपयोग जरूरी

हो गया था या नही । स्वर्ण मंदिर की रक्षा के लिए सेना ने निस्सदेह भारी साव-धानी बरती थी और लगातार फायरिंग के बावजूद उन्होंने हरमिंदर साहब की ओर एक गोली तक नही चलायी ।

9 पंजाब समस्या का दूरगामी दुष्प्रभाव :

पंजाब समस्या से पिछले दिनों काफी मात्रा में जानें गई तथा निर्दोष नाग-रिकों को अपने अमूल्य जीवन से हाथ धोना पड़ा । इतिहास कभी भी इस क्षति की पूर्ति नही कर सकेगा । अभी भी इस दिशा में स्थिति में सुधार नही हुआ है । यदि हमने दूरदर्शिता, सूझबूझ तथा समन्वयात्मक दृष्टिकोण नही अपनाया तो अन्य साम्प्रदा-यिक झगड़ो की भांति हिन्दुओं एवं सिखों में गहरी दरार पड़ जायेगी जिसको पाटना भविष्य में दुष्कर हो जायगा ।

पंजाब समस्या का समाधान न होने के फलस्वरूप दोनों राज्यो, हरियाणा तथा पंजाब दोनों ही अपनी आर्थिक समृद्धता को खो बैठेंगे तथा देश के आर्थिक मानचित्र पर उनका प्रभुत्वशाली स्थान लुप्त प्राय हो जायेगा । दोनों राज्यों के महत्वपूर्ण उद्योगों, वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों, सार्वजनिक कार्यालयों, शिक्षण-संस्थानों आदि गतिविधियों में दिन-प्रतिदिन शिथिलता आ रही है । इन सभी का दूरगामी प्रभाव पड़ेगा तथा देश की आर्थिक-सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हो जायगी तथा लोक-तन्त्रीय मूल्यों का ह्रास हो जायेगा ।

10. पंजाब समस्या के समाधान में कतिपय सुझाव

इस समय सिखों को जरूरत है धर्म और राजनीति को अलग-अलग करने की । दरअसल धर्म और राजनीति के एक साथ रहने से सब कुछ गड़बड़ हो जाता है । राजनीति में लचीलापन होता है जबकि धर्म जड़ होता है । इसलिए यह मौका सिखों के लिए अच्छा है कि वे जत्थेदारों से मुक्ति पा लें और पढ़े-लिखे समझदार लोगों को अपने भविष्य की बागडोर सौंपे । अब समय बदल गया है और वही सम्प्र-दाय सफल हो सकता है जिसकी बागडोर जागरूक और दूरदर्शी लोगों के हाथ में होगी ।

स्वर्ण मन्दिर के पुनर्निर्माण का दायित्व सरकार को स्वयं नही लेना चाहिये बल्कि 'कार सेवा' की जानी चाहिये । यह सन्तोष की बात है कि बाबा हरबंससिंह ने स्वयं स्वर्ण मन्दिर देखा है और वह 'कार सेवा' का कार्य सम्भालने को तैयार दीखते हैं, इसमें न केवल बड़ी संख्या में कार्यकर्त्ताओं की जरूरत होगी बल्कि धन की भी जरूरत होगी । हिन्दु सिख एकता बनाये रखने के लिए जरूर है कि दोनों सम्प्रदाय एक संयुक्त निधि की स्थापना करें, ताकि पीड़ित परिवारों की सहायता की जा सके । सैनिकों की सहायता तो सरकार कर ही रही है, लेकिन उनके अलावा जो लोग मारे गये है उनके परिवारों की भी सहायता की जानी चाहिये ।

पंजाब की समस्या अब बहुत जटिल हो गयी है। एक तरफ यह शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की समस्या है तो दूसरी और सिखों के असन्तोष को दूर करना भी जरूरी है। पंजाब में शान्ति स्थापित करने के लिए उग्रपंथियों के विरुद्ध सख्त कार्यवाही जरूरी है। इसके साथ ऐसी सामाजिक, राजनैतिक कार्यवाही भी की जानी चाहिये जिससे हिन्दू तथा सिखों के बीच सद्भाव स्थापित किया जा सके। साधारण सिख जनता हिन्दुओं के विरुद्ध नहीं है, यह अच्छी बात है। अकालियों की उचित मांगों को स्वीकार करके सिखों पर उग्रपन्थियों के प्रभाव को कम किया जाना चाहिये। इसके साथ सरकार को सभी राजनैतिक दलों का सहयोग भी इस समस्या को हल करने के लिए लेना चाहिये। सरकार की जागरूक समन्वयवादी समझ सिखों को हमेशा के लिए जीत सकती है। दोनों की अड़ियल नीति ने वर्तमान स्थिति पैदा की है। अतः उनकी नीति में आवश्यक परिवर्तन की जरूरत है।

तथाकथित खालिस्तान की मांग भारत राष्ट्र की अखण्डता एवं एकता पर कुठाराघात है। किसी भी भारतवासी को ऐसी बात तनिक भी ध्यान में नहीं लानी चाहिए। यह ख्याल मन में लाना ही खतरनाक है। खालिस्तान एक ऐसा कैंसर है जो सारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को ही खा जायेगा। इस लिए इस नाम को जबान पर नहीं लाना चाहिये।

पंजाब-समस्या पर जारी श्वेत पत्र

केन्द्र सरकार ने 10 जुलाई 1984 को पंजाब समस्या पर श्वेत-पत्र जारी किया है। श्वेत-पत्र में मुख्य रूप से कहा गया है कि अकाली दल ने 1981 में जो मांग-पत्र प्रस्तुत किया था, वह पंजाब समस्या का मूल-विषय नहीं था बल्कि वह पृथकतावादी और अराष्ट्रीय आन्दोलन का आधार था। स्वर्णमन्दिर परिसर में भारी मात्रा में हथियार बरामद होने से निसन्देह यह प्रमाणित हो जाता है। श्वेत पत्र में यह कहा गया है कि कुछ विदेशी राष्ट्र के स्वर्णमन्दिर में काम करने वाले उग्रवादियों को सभी तरह का सहयोग प्राप्त था। श्वेत पत्र में आगे कहा गया है कि स्वर्णमन्दिर परिसर में तोड़-फोड़ की गतिविधियां अपनी चरम सीमा तक पहुंच गई थी, इसलिए भारत की सुरक्षा तथा एकता को खतरा देखते हुए सेना बुलाई गई। सेना को निर्देश दिया गया था कि हरमन्दिर साहब और अकाल तख्त को हानि नहीं पहुँचे। लेकिन आतंक कारियों ने जब अकाल तख्त से टैंक विरोधि हथियारों का उपयोग किया तो इस भवन पर गोलीबारी करनी पड़ी।

पंजाब के 42 अन्य स्थानों, धार्मिक स्थानों पर सेना ने कार्यवाही की ताकि आतंककारियों को निकाला जा सके। दस्तावेज में बताया गया है कि तीन जून 1984 तक 1200 से अधिक हिंसक घटनाएं हुईं जिनमें 410 व्यक्ति मारे गए। श्वेत पत्र में कहा गया है कि गत 4 वर्षों में स्पष्ट रूप से ये चार बातें परिलक्षित होती है :—

(i) शिरोमणि अकाली दल के आन्दोलन,

(ii) साम्प्रदायिक और उग्रवादी आन्दोलन जिसमे खुले रूप से हिंसा की वकालत की जाने लगी, तथा शासन के खिलाफ जघन्य अपराध किए गए,

(iii) पृथक्तावादी तथा राष्ट्रविरोधी गतिविधियाँ

(iv) अपराधियो, तस्करो और अन्य समाजविरोधी लोगो से शामिल होकर हालात का नाजायज लाभ उठाया।

दस्तावेज मे स्पष्ट रूप से कहा है कि सरकार ने अन्तिम क्षणो तक अकाली नेताओ से बातचीत का रास्ता अपनाया लेकिन उनका रवैया पहले से भी अधिक सख्त हो गया।

11. उपसंहार

नयी दिल्ली मे सविधान के अनुच्छेद 25 का जलाया जाना प्रतीक रूप से दो सप्रदायो के बीच परम्परागत सास्कृतिक और सामाजिक सबधो के विरुद्ध युद्ध की घोषणा के बराबर है। यह राजनैतिक कर्म केवल उसी मायने मे है जिस मायने मे मुस्लिम लीग द्वारा दो राष्ट्रो के सिद्धान्त की घोषणा थी। अकाली नेतृत्व द्वारा पजाब मे लगातार निरपराध लोगो की हत्या की आलोचना इस सदर्भ मे मगर-मच्छ के आसू की तरह है क्योकि सिखो को हिंदुओं से अलग करने की माग और उग्रवादियो द्वारा इस माग के लिए आतक पैदा करने के लिए हत्याओ का सिलसिला जारी रखने को अलग-अलग दृष्टिकोणो से देखना बाल की खाल खीचने के बराबर ही है। हिंसा की निर्ममता का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पजाब मे जिन लोगो की हत्याए हुई है उनमे अधिकाश लोग ऐसे है जिनका राज-नैतिक दलो से कोई सबध नही था।

गुरुद्वारे मे हथियार इकट्ठे करने और वाछित हत्यारो को पनाह देने से शातिपूर्ण आदोलन और हिंसा के बीच पतली रेखा मिटती नजर आ रही है।

पानी के विभाजन का मामला या चडीगढ की समस्या तो बातचीत से हल हो सकती है। यह दुर्भाग्य की बात है कि पिछले एक दशक से इस बात को इतनी गभीरता से नही लिया गया जितनी गभीरता की जरूरत थी। राजनैतिक दुराग्रह और सत्तालोलुपता ने इस समस्या को इतना जटिल बना दिया कि राष्ट्रीयता के नाजुक ततु भी टूटने लगे।

पजाब भारत का प्रवेश द्वार रहा है और अब भी है। यह जम्मू-कश्मीर के लिये एकमात्र मार्ग है। सामरिक दृष्टि से यह बात आसानी से समझ मे आ जानी चाहिए कि पजाब के अलगाव मे पूरे उत्तर भारत की सामरिक सुरक्षा खतरे मे पड सकती है। यह तथ्य दोहराने की जरूरत इसलिए पड रही है कि पिछले एक दशक मे न सत्तारूढ दलो ने और न ही विपक्ष ने दूरगामी परिणामो को अपनी तात्कालिक नीतिया बनाते समय दृष्टि मे रखा है। फिलहाल इस बहस से कोई लाभ नही कि

भिंडरावाले को प्रतिभा कांग्रेस ने विपक्षी दलों को पीटने के लिए गढ़ी है या कि नहीं, दल खालसा को अकाली दल को पीछे धकेलने के उद्देश्य से जन्म दिया गया कि नहीं, बीते कल पर बहस के और भी अवसर आयेंगे। आज और आने वाले कल के लिए सचेत होने की जरूरत है। इससे पहले कि हिन्दू और सिख आत्मघात का एक समझौता कर बैठें, सरकार को कदम उठाना होगा। यह राष्ट्रीय दायित्व है और राजनैतिक प्राथमिकता भी।

मगर 28 फरवरी को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पंजाब पर राज्य-सभा में हुई, बहस में भाग लेते हुए कहा कि दरअसल अकालियों के ही आग्रह पर अनुच्छेद 25 में 'सिख' शब्द जोड़ा गया था। उन्होंने कहा कि इस आशय का एक समझौता अकाली नेता मास्टर तारासिंह और सरदार पटेल में हुआ था। 'सिख' शब्द इस अनुच्छेद में शामिल करने के पीछे तर्क यह था ताकि सिखों में भी पीड़ित वर्गों को वे सभी रियायतें मिल सकें जो हिन्दुओं के ऐसे वर्गों को उपलब्ध हैं।

धर्मनिरपेक्षता तथा लोकतन्त्र में विश्वास रखने वाले सभी लोगों की जिम्मेदारी बनती है कि वक्त की चुनौती को स्वीकार करें, स्थिति में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करें और साम्प्रदायिकता व पृथकतावाद के जहर को और न फैलने दें। पंजाब के बेहतरीन शान्तिकारी परम्पराओं के प्रति सच्चे बने रहकर इस महान देश की आंख की पुतली की तरह से पंजाबी जनता की एकता की रक्षा करनी होगी। सरकार को भी चाहिए कि वह पंजाबियों की जायज मांगें स्वीकार करे तथा सिखों की भावनाओं को शांत करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करे।

भारत में बेरोजगारी की समस्या एवं समाधान

सामान्य अवलोकन

1 प्रारम्भिक
2 बेरोजगारी के कारणों की खोज
3 बेरोजगारी के दुष्प्रभाव
4 भारत मे बेरोजगारी का व्यापक स्वरूप
5 बेरोजगारी के उपचार
6 उपसंहार

1 प्रारम्भिक

आर्थिक विकास के लिये रोजगार की समस्या जितनी अधिक महत्व रखती है उतना अन्य किसी समस्या का महत्व नही है। जब तक आर्थिक क्रियाओ का मूल उद्देश्य मानव आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करना रहेगा तब तक बेरोजगारी एव अपूर्ण रोजगार के होने का अर्थ यही होगा कि देश म आर्थिक असन्तोष तथा निर्धनता व्याप्त है। रोजगार के अवसर जितने अधिक होग उतनी ही व्यक्तियो की समृद्धि अधिक होने की सम्भावना होगी तथा वस्तुओ का उत्पादन बढेगा और सेवाओ म वृद्धि होगी। इसस अन्तत राष्ट्रीय कल्याण में भी वृद्धि होगी।

बेरोजगारी की परिभाषा इस प्रकार से नही की जा सकती कि जब भी कोई व्यक्ति सोता है तो उसे बेकार अथवा बेरोजगार कहा जाय। वस्तुत बेरोजगारी उस अवस्था को कहते है जब उसे रोजगार प्राप्त करने इच्छा तो होती है परन्तु उसे रोजगार नही मिलता। बेरोजगारी की परिभाषा म उसी अवस्था को लिया जाता है जिस अवस्था म देश म कार्य करने वाली आयु के योग्य व समर्थ व्यक्ति बहुसंख्या म होते है और ऐसे व्यक्ति कार्य करना चाहते है परन्तु उनको प्रचलित मजदूरी पर कार्य प्राप्त नही हो पाता। ऐसे व्यक्ति जो शारीरिक व मानसिक कारणो से कार्य करने के लिये अयोग्य हैं अथवा जो कार्य करना नही चाहते, बेरोजगारो की श्रेणी मे नही आते। जो कार्य करने के अयोग्य है उनको "रोजगार अयोग्य कहा जा सकता है। साधु पीर, भिखमगे तथा कार्य न करने वाले जमीदार आदि ऐसे व्यक्ति है जिन्हे पराश्रयी कहा जा सकता है।

2 बेरोजगारी के कारणो की खोज

बेरोजगारी के सम्बन्ध म जो कुछ वर्णन किया गया है वह रोजगार तथा

बेरोजगारी उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को समझाने हेतु केवल औपचारिक विचार विमर्श है। आधुनिक सिद्धान्तों की तुलना में उसके बिना यह कहा जा सकता है कि बेरोजगारी के कारण सम्मिलित दोनों ही हो सकते हैं जिन्हें आन्तरिक अथवा बाह्य कारण कहा जा सकता है। व्यक्तिगत कारण चरित्र में दोष, तथा शारीरिक अयोग्यता है, अर्थात् श्रमिक की शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक कमियों के कारण बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है। कई बार यह देखा गया है कि इच्छा होते हुए भी एक व्यक्ति अपनी शारीरिक विकृति, दुर्बल मानसिक अवस्था, किसी दुर्घटना, दोष पूर्ण शिक्षा एवं प्रशिक्षण आदि के फलस्वरूप कार्य नहीं कर पाता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक शारीरिक कमियां प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से फैक्ट्री प्रणाली के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यदि यह कारण मालिक से सम्बन्धित है तो इन कमियों का उत्तरदायित्व मालिक का ही होना चाहिये अन्यथा यदि कारण कम विशिष्ट प्रकार का है तो इसका उत्तरदायित्व राज्य पर होना चाहिये।

बेरोजगारी के बाह्य कारण भी हैं जिन्हें आर्थिक कारण कहा जा सकता है। इनमें से प्रथम कारण सामयिक उतार-चढ़ाव हैं। यह देखा गया है कि समृद्धि तथा मन्दी के काल लगभग नियमित रूप से कुछ मध्यान्तर पर एक दूसरे के पश्चात् आते हैं तथा इस चक्र ने इस विश्वास को जन्म दे दिया है कि आर्थिक व्यवस्था में कुछ ऐसे अन्तर्निहित दोष हैं जो व्यापार में चक्र उत्पन्न कर देते हैं। मन्दी के काल में व्यवसाय में कमी आ जाती है तथा बेरोजगारी बढ़ जाती है।

द्वितीय कारण औद्योगिक परिवर्तन है, अर्थात् मांग में परिवर्तनों के कारण अथवा नवीन खोजों या तकनीकी उन्नति के कारण उत्पादन प्रणालियों में परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् विवेकीकरण योजनायें लागू करने के कारण बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है। तृतीय कारण यह है कि कुछ आर्थिक क्रियायें अस्थायी या मौसमी होती हैं जिनके कारण अपूर्ण रोजगार ही मिल पाता है मकान, सड़कें आदि बनाने वाले तथा खेती में कार्य करने वाले श्रमिक वर्ग पर पूर्णतया रोजगार नहीं पाते। इसके अतिरिक्त नैमित्तिक श्रमिक प्रणाली से यह स्पष्ट है कि कुछ कार्यों के लिये अस्थायी रूप से श्रमिक लगा लिये जाते हैं। ऐसे व्यक्ति तभी रोजगार पाते हैं जब व्यापार तीव्र होता है अन्यथा अन्य काल में वह बेरोजगार ही रहते हैं। यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि यदा-कदा श्रमिक संघ मालिकों को श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी देने को विवश करके बेरोजगारी उत्पन्न कर देते हैं, क्योंकि इस कारण कभी न कभी मालिक श्रमिकों की मांग घटा देते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक देश में बेरोजगारी के अनेक कारण हैं। मुख्य कारण तो आर्थिक तथा सामाजिक ढांचा ही है। बेरोजगारी कमिन-स्थापन ढांचे में असन्तुलन के कारण, पूंजीगत सामान की कमी के कारण और समर्थ मांग घटने के कारण

उत्पन्न होती है। बेरोजगारी तब तक चलती रहेगी जब तक उत्पादन का उद्देश्य लाभ प्राप्त करना रहेगा तथा सरकार जनता के लिए पर्याप्त मात्रा में रोजगार के साधनों को विकसित नहीं कर पाती। यदि रोजगार के किसी स्तर पर उद्यमी यह देखते हैं कि उन्हें मिलने वाली प्राप्तियां वस्तुओं की लागतों से कम हैं तो वे वस्तुओं का उत्पादन ही बन्द कर देते हैं और श्रमिकों को रोजगार से उस समय तक अलग करते रहते हैं जब तक कि लागतें प्राप्तियों से कम न हो जायें। इस प्रकार, कीमत-लागत के ढांचे में इस असन्तुलन के कारण अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी उत्पन्न होती है। जे एम कीन्स के अनुसार, समर्थ माग की कमी के कारण बेरोजगारी उत्पन्न होती है। समर्थ माग से आशय उस द्रव्य से होता है जोकि लोग उद्योगों में बनी वस्तुओं पर वास्तव में खर्च करते हैं। लोग वास्तव में जो धन खर्च करते हैं, उससे ही उपभोग के स्तर का निर्धारण होता है।

बेरोजगारी का एक महत्वपूर्ण कारण जनसंख्या में तीव्र वृद्धि है। भारत में लगभग डेढ़ करोड़ की आबादी प्रतिवर्ष बढ़ती है। आजादी के बाद भारत में काफी विकास कार्य हुआ है। और कार्य करने के अवसरों में तीव्र वृद्धि हुई है किन्तु विकास कार्यों की अपेक्षा जनसंख्या वृद्धि अधिक रही है। अन्ततः कुल मिलाकर बेरोजगारी की संख्या कम होने की अपेक्षा बढ़ जाती है।

हमारी शिक्षा पद्धति भी बेरोजगारी की समस्या को बढ़ाने में कुछ योगदान करती है। अधिकांश शिक्षित युवक केवल सरकारी नौकरी करना चाहते हैं। वे शारीरिक श्रम के काम से बचते हैं। अपना निजी उद्योग चलाने की अपेक्षा वे बेकार रहना पसन्द करते हैं। हमारी शिक्षा श्रम के प्रति अरुचि बढ़ाने वाली शिक्षा है। हमारे देश में तकनीकी शिक्षा की सुविधाएँ भी अधिक नहीं हैं। अधिकांश युवक जो सामान्य शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे स्वयं का उद्योग लगाने की शिक्षा से वंचित रहते है। और सरकारी नौकरी तलाश करते रहते है।

3. बेरोजगारी के दुष्प्रभाव—

बेरोजगारी के दुष्परिणाम इतने स्पष्ट है कि उनको विस्तार में वर्णन करने की आवश्यकता नहीं हैं। बेरोजगारी का भय ही श्रमिक की प्रसन्नता तथा कार्य-कुशलता पर बुरा प्रभाव डालता है। वास्तविक बेरोजगारी सम्भवतः इतनी ही विपत्तियां उत्पन्न कर देती है जितनी अस्वस्थता तथा रोग से उत्पन्न होती हैं। बेरोजगारी का तत्काल प्रभाव स्पष्ट रूप से यह होता है कि श्रमिक की आय कम हो जाती है। श्रमिक के पास यदि कुछ बचत होती है तो वह साधारणतः इतनी अपर्याप्त होती है कि उससे बहुत दिनों तक परिवार का गुजारा नहीं चल सकता। परिणामस्वरूप जीवन स्तर गिर जाता है और भोजन, वस्त्र आदि में अभाव उत्पन्न हो जाता है तथा प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित व्यक्ति पर ही नहीं वरन् उसके समस्त परिवार

पर संकट आ जाता है। यदि बेरोजगारी चलती रहे तो इससे स्थायी रूप से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है तथा नैतिक बन्धनों में स्थायी रूप से ढील आ जाती है। जब जीवन स्तर गिर जाता है तो शीघ्र ही श्रमिक की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है और श्रमिक पुनः रोजगार में लगने के पश्चात् भी यह अनुभव करता है कि उसकी तकनीकी कुशलता कम हो गई है जिससे उसकी धनोपार्जन की शक्ति घट गई है। परिणामस्वरूप उसे इस बात के लिये विवश होना पड़ता है कि जो भी अकुशल कार्य उसे मिले वह ही कर ले। इस प्रकार कभी-कभी अपना पूर्व का कुशल कार्य श्रमिक सदा के लिये खो बैठता है।

सामाजिक दृष्टिकोण से बेरोजगारी की समस्या एक कलंक है। इस कथन में कोई सन्देह नहीं है कि, "खाली समय में मस्तिष्क शैतान की कार्यशाला बन जाता है।" अनेक बेरोजगार व्यक्तियों को भीख मांगने की आदत पड़ जाती है। बेरोजगारी व्यक्ति के धैर्य तथा उत्तरदायित्व की भावना को नष्ट कर देती है। मदिरा-पान कम रोजगार के समय सबसे अधिक होता है। क्रान्तिकारी विचार बेरोजगार व्यक्ति के मस्तिष्क में बहुत जल्दी आ जाते हैं। समाज में कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को तभी पूरा कर सकता है जब वह लाभदायक रोजगार पर लगा हुआ हो।

बेरोजगारी में उन आवश्यक शक्तियों का ह्रास होता है जिन्हें मुद्रा में नहीं नापा जा सकता। कोई भी व्यक्ति कितना ही कार्यकुशल क्यों न हो अधिक समय बेरोजगार रहने पर अवश्य ही उसकी कुशलता में कमी आ जायेगी। उसके हाथों से पूर्व प्रकार का कुशल कार्य नहीं हो सकेगा और उसमें आलस्य की आदत पड़ जायेगी। यह प्रवृत्ति बेरोजगार व्यक्ति को रोजगार के अयोग्य बना देती है। कार्य की खोज वास्तविक कार्य से अधिक थकाने वाली होती है। इसके अतिरिक्त बेरोजगारी से उत्पन्न निम्न जीवन-स्तर के कारण अपर्याप्त भोजन से माता तथा बालकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। अधिकतर माताओं को रोजगार पाने के लिये निकलना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप गृहस्थी में विघ्न पड़ जाता है। परिणामस्वरूप, कारखानों के श्रमिकों की मजदूरी भी गिर जाती है।

इस प्रकार बेरोजगारी के जो आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक परिणाम होते हैं वह आरम्भ में भी और अन्त में भी बहुत गम्भीर होते हैं। अतः देश में बेरोजगारी होने से राष्ट्रीय लाभांश तथा समाज कल्याण दोनों को ही हानि पहुँचती है।

4. भारत में बेरोजगारी का व्यापक स्वरूप :

भारत जैसे देश में बेरोजगारी के दुष्परिणाम पूर्णतया असहनीय हो जाते हैं। बेरोजगारी देश के लिये बहुत महंगी पड़ती है। ऐसा देश जो खनिज, कृषि तथा शक्ति के साधनों में धनी माना जाता है, परन्तु जिन साधनों का अभी तक पूर्ण लाभ नहीं उठाया गया है, तथा जिसमें निःसन्देह मानव शक्ति का अभाव नहीं है, उस देश

मे बेरोजगारी होने का अर्थ यह होता है कि सम्भाव्य राष्ट्रीय धन की बहुत हानि हो रही है।

भारत में काफी लम्बे समय से समस्त वर्गों म बेरोजगारी व्यापक रूप से पाई जाती है। शिक्षित वर्ग म, अशिक्षित वर्ग मे, औद्योगिक श्रमिको म तथा खेतिहरों म बेरोजगारी की विकट समस्या है। देश मे अपूर्ण रोजगार भी बहुत अधिक है। जैसा कि स्वर्गीय पडित नेहरू ने सन्द मे प्रथम पचवर्षीय आयोजना पर वाद-विवाद के समय बताया था, भारत मे दो प्रकार के बेरोजगार व्यक्ति है—एक अपेक्षाकृत कम सख्या वाले वर्ग के व्यक्ति है और दूसरी बडी सख्या वाले वर्ग के। कम सख्या वाला वर्ग तो उन व्यक्तियों का है जो बिल्कुल परिश्रम नही करते और न कोई उत्पादन प्रयत्न करते है, बल्कि दूसरो के श्रम पर जीवित रहना चाहते है। इनकी आय किराये के रूप म या अन्य किसी प्रकार की होती है। य ऐसे व्यक्ति है जो समाज के उच्च शिखर पर आसीन है। इन्हे कार्य करने की आवश्यकता नही है, क्योंकि अन्य किसी समय धन उपार्जन कर चुके थ।

दूसरी पकार की बेरोजगारी दो श्रेणियों म विभाजित की जा सकती है। बेरोजगारी मे स कुछ व्यक्ति आलसी हाने है। क्योकि हमारे देश म आलस्य को स्थान देने वाल व्यक्तियों द्वारा बढावा दिया जाता है। ऐसे आलसी व्यक्तियो की सख्या कई लाख भी हो सकती है, किन्तु तब भी ऐसे व्यक्ति अपेक्षाकृत कम हैं। इसके पश्चात् वास्तविक रोजगार आते है, अर्थात् वे व्यक्ति जो यदि अवसर दिया जाये तो कार्य कर सकते है, जिनको सरलता से ऐसा अवसर नही मिल पाता। देश मे ऐसे व्यक्तियों की ही बेरोजगारी की वास्तविक समस्या है।

देश मे खेतीहर बेरोजगारी तथा अपूर्ण बेरोजगारी पाई जाती है। भूमि पर अधिक जनसख्या का दबाव, उद्योगो की कमो तथा खेतिहर कार्यों की मौसमी प्रकृति इस प्रकार की बेरोजगारी के कारण है। कृषि अनेक दोषों से परिपूर्ण है तथा इस पर निर्भर रहने वाल लाखो भारतीयो को इससे पूर्ण रोजगार नही मिलता। यद्यपि इस प्रकार की बेरोजगारी के सही आकडे प्राप्त नही हैं किन्तु इसकी सीमा इसी बात से ज्ञात हो जाती है कि भारतीय कृषक का अपूर्ण रोजगार के कारण जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ है तथा अधिक सख्या मे भूमिहीन श्रमिक पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त देश मे औद्योगिक बेरोजगारी भी है, क्योंकि औद्योगिक विकास की गति बहुत धीमी रही है। उद्योगों का स्थानीयकरण भी दोषपूर्ण है जिसके कारण कुछ केन्द्रों मे बहुत उद्योग स्थापित हो गये हैं तथा बहुत भीड भाड हो गई है। परिणामस्वरूप श्रमिको को खपाने की क्षमता कम हो गई है। हमारे उद्योगो मे उत्पादन की लागत भी काफी ऊँची है और वे उचित प्रकार म विकसित नही हो पाते है। कुछ उद्योगो मे विवेकीकरण (Qutomation) योजनाओं ने भी श्रमिको को रोजगार विहीन कर दिया है। कुछ उद्योग, जैसे—चीनी उद्योग मौसमी होने हैं और वह पूर्णकालीक रोजगार नही दे पात।

शिक्षित वर्ग में भी बेरोजगारी पाई जाती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमारी शिक्षा-प्रणाली बहुत अधिक साहित्यिक है तथा हमारे स्नातक क्लर्कों अथवा साहित्यिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिये उपयुक्त नहीं रहते। स्नातकों की बढ़ी संख्या को सीमित कार्यों में खपाना सम्भव नहीं हैं। अतः शिक्षित वर्ग में भी व्यापक रूप से बेरोजगारी फैली हुई है।

समस्त प्रकार की बेरोजगारी का मूल कारण देश का आर्थिक पिछड़ापन है। आर्थिक क्रियायें बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ गति नहीं रख सकी है। समस्त प्रकार के रोजगार-योग्य श्रमिकों की संख्या प्राप्त रोजगार की मात्रा से कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि देश के उत्पादन साधनों का पूर्णतया तथा उचित रूप से उपयोग नहीं किया गया। हमारी अर्थव्यवस्था की असन्तुलित प्रकृति ही बेरोजगारी के लिये निम्नलिखित बातों को मुख्यतः उत्तरदायी मानता है: (क) जनसंख्या में तीव्र वृद्धि (ख) पुरातन ग्रामीण उद्योगों का विलीन होना, (ग) गैरखेतीहर क्षेत्र का अपर्याप्त विकास, (घ) विभाजन के कारण जनसंख्या का अधिक संख्या में विस्थापन।

बेरोजगारी के उपचार— जैसा कि पीछे भी बताया जा चुका है, बेरोजगारी की जड़ें सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में उससे कहीं अधिक गहराई से बैठी हुई है जितना कि सामान्यतः समझा जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने के लिये बहुमुखी प्रयास किये जायें। आर्थिक विकास तथा पूंजीगत साज-सज्जा का निर्माण करके राष्ट्र के संसाधनों का विकास, बड़े तथा छोटे दोनों ही पैमाने के क्षेत्रों में औद्योगीकरण की रफ्तार में तेजी, कृषि का पुनर्गठन, रोजगार प्रधान शैक्षणिक व्यवस्था, मानव-शक्ति का नियोजन, जनसंख्या की वृद्धि पर रोक आदि ये कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा देश की बेरोजगारी की समस्या पर काबू पाया जा सकता है।

बेरोजगारी के उपचार के लिये यह सुझाव दिया जाता है कि श्रम की मांग तथा पूर्ति में सन्तुलन लाने श्रमिकों को अधिक नियमित प्रकार का कार्य दिलाने, तथा नैमित्तिक श्रम की बुराइयों को कम करने के लिये रोजगार दफ्तरों की स्थापना करनी चाहिये। व्यापार-चक्रों के कारण उत्पन्न बेरोजगारी—अर्थात मन्दी के काल में उत्पन्न बेरोजगारी को राजकीय कार्यवाहियां द्वारा कम किया जा सकता है। मन्दी से प्रभावित समस्त व्यवसायों में कार्य के घण्टों को कम करके अथवा कम समय की पारियां चलाकर श्रम की मांग बढ़ाई जा सकती है। श्रमिकों की मांग सार्वजनिक इमारतों रेलों, सड़कों, नहरों आदि का निर्माण जैसे सार्वजनिक कार्यों को करके भी बढ़ाई जा सकती है। यह कार्य न केवल इनमें लगे हुए व्यक्तियों को रोजगार देते वरन् इनमें लगे हुए श्रमिकों में विभिन्न वस्तुओं के निजी उत्पादन को भी प्रोत्साहित करते हैं। किन्तु इन समस्त कार्यों को सावधानी से नियोजित करना चाहिये जिसमें

विशेष संस्थायें जैसे—राष्ट्रीय रोजगार तथा विकास बोर्ड स्थापित हो सकें। इसके अतिरिक्त मौसमी तथा अल्पकालीन बेरोजगारी विभिन्न व्यापारों का सम्मिश्रण करके हल की जा सकती है, जिससे पूर्ण वर्ष रोजगार मिलता रहे।

रोजगार के अयोग्य व्यक्तियों का राज्य द्वारा उपचार होना चाहिए, उदाहरणार्थ जो व्यक्ति शारीरिक रूप से अयोग्य हैं किन्तु ठीक हो सकते हैं। जो सामाजिक पराश्रयी हैं उनके सुधार का भी प्रबन्ध किया जाना चाहिए। बेरोजगारी के काल में बेरोजगारी बीमा योजनाओं को लागू किया जाना चाहिए।

उपसंहार— यह उल्लेखनीय है कि गत वर्षों में बेरोजगारी की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया है तथा स्वर्गीय पण्डित नेहरू के शब्दों में, "आज यह सबसे गहन प्रश्न है।" श्री श्रीमन् नारायण ने इस समस्या को प्रथम श्रेणी का शत्रु भी कहा है। रोजगार दफ्तरों में पंजीकृत व्यक्तियों की संख्या तीव्रता से बढ़ रही है, जबकि रिक्त स्थानों की संख्या एवं नौकरियां कम होती जा रही हैं शिक्षित वर्ग में समस्या अधिक जटिल एवं गम्भीर हो गई है। एक रिक्तस्थान के लिए हजारों प्रार्थना पत्र मिलते हैं जिनमें से कुछ उच्चस्तरीय शिक्षित व्यक्तियों के भी होते हैं। भारत में आयोजनाओं का सबसे अधिक असन्तोष लक्षण यही है कि भारत में बेरोजगारी बढ़ती जा रही है आयोजनाओं की सफलता भी अधिकतर इसी बात से आंकी जायगी कि आयोजना अवधि में बेरोजगार तथा अपूर्ण रोजगार वालों को किस सीमा तक नये रोजगार अवसर प्रदान किए गये हैं। विभिन्न अनुमानों से स्पष्ट है कि सन् 19ˆ1 में लगभग 2 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार थे और 1982 तक इस संख्या 6 करोड़ व्यक्ति और जुड़ जायेंगे इस प्रकार 8 करोड़ लोगों को श्रेष्ठता या अतिरिक्त रोजगार देना है जो एक बड़ा कठिन कार्य है।

अतः बेरोजगारी की समस्या का दीर्घकालीन दृष्टिकोण से अवलोकन होना चाहिए। बेरोजगारी का सबसे उत्तम उपचार आर्थिक नियोजन है। नियोजन ही हम इस योग्य बना सकता है कि देश के वर्तमान बेकार मानवीय तथा प्राकृतिक साधनों को धन के उत्पादन में लगा सकें। उचित आर्थिक आयोजन द्वारा ही यह सम्भव है कि खेती, उद्योग, शिक्षा-प्रणाली आदि में सुधार किए जा सकें तथा साधनों को उचित रूप से विकसित किया जा सके। बेरोजगारी की समस्या आयोजन बद्ध आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत हल करनी चाहिए। रूस में तथा अमरीका में भी किये गये प्रयोगों से ज्ञात होता है कि ऐसा करना सम्भव है। यदि हम देश में बेरोजगारी की समस्या को हल करना चाहते हैं तो आर्थिक विकास में काफी वृद्धि तथा संगठनात्मक ढांचे में उपयुक्त परिवर्तन करने के साथ-साथ लघु ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों के संगठन द्वारा श्रम प्रधान उपयोग पर आयोजनाओं में अधिक बल दिया जाना चाहिये।

———

"भारत एक समृद्ध राष्ट्र है जिसमें निर्धन लोग निवास करते हैं।"

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. भारतीय अर्थव्यवस्था की सम्पन्नता
3. भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन के कारण
4. भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास हेतु कतिपय सुझाव
5. उपसंहार।

1. प्रारम्भिक

भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से विश्व का एक अति सम्पन्न राष्ट्र है। भारत के विषय में वीरा एन्स्टे ने लिखा है कि "हिमालय की स्याही हिम और कश्मीर के ऊंचे क्षेत्रों से लेकर पश्चिमी राजस्थान के वर्षा-वाहिन मरुस्थलों और मालाबार के झाट-झाऊनों से इसे प्रचुर दान मिला है। यहा पशुओं, वन-उपजों तथा खनिजों का महान् विस्तार है। पश्चिमी राजस्थान के ऊंटों से लेकर बंगाल के हाथी और चीते, उत्तर प्रदेश के गेहूँ, फलों और फल के वृक्षों से लेकर मैसूर के पतली तथा खूबसूरत सुपारी तथा धूप के पेड़ तथा दलदलों एवं समुद्र तटीय क्षेत्रों के नारियल, बंगाल, बिहार और उड़ीसा की कोयले-लोहे की खानें, मैसूर के स्वर्ण क्षेत्र, राजस्थान की नमक झीलें और असम के तेल क्षेत्र यहां पाये जाते हैं।" परन्तु दूसरी ओर निम्न राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय, बड़े पैमाने में व्याप्त बेरोजगारी, निम्न जीवन स्तर और भारत के निवासियों की स्थिति से दरिद्रता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। *यदि भारतीय प्राकृतिक स्रोतों का देश की अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास के लिए प्रयोग किया जाय तो यह शीघ्र ही सम्पन्न राष्ट्र बन सकता।* जथार एवं बेरी के अनुसार तो "प्रकृति ने उदारतापूर्वक भारत को अनेक उपहार दिये हैं, परन्तु भारतवासी उनसे समुचित लाभ नहीं उठा सके हैं। प्राकृतिक विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता कैसी विडम्बना है।"

2. भारतीय अर्थव्यवस्था की सम्पन्नता :

भारत एक विशाल देश है, जिसमें विकास की सम्भावनायें अत्यधिक हैं,

भारत मे आर्थिक विकास के लिए सभी प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं इन साधनो की उपलब्धि एव प्रचुरता के कारण ही भारत को धनी एव सम्पन्न राष्ट्र कहते है। भारतीय अर्थव्यवस्था को सम्पन्नता म निम्न साधक सिद्ध हुए है—

(क) अनुकूल भौगोलिक स्थिति

भारत की प्राकृतिक स्थिति प्रकृति की एक अनुपम देन है। इसके उत्तर म हिमालय, दक्षिण म हिन्दमहासागर पूर्व म बगाल की खाडी तथा पश्चिम म अरब सागर है। उत्तर म हिमालय, दक्षिण म समुद्र व मध्य से गुजरती कर्क रेखा ने भारत को अनुकूल भौगोलिक स्थिति प्रदान की है जो विकास म सहायक है। भारत म कृषि फसलो की विविधता का श्रेय भारतीय जलवायु को है।

(ख) विस्तृत भू क्षेत्र

भारत का क्षेत्रफल 32 88 लाख वर्ग किलोमीटर है इसके 18 40 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को कृषि कार्यो के लिए प्रयोग किया जा सकता है। भू-क्षेत्र की दृष्टि से भारत का विश्व म सातवा स्थान है।

(ग) उपयुक्त प्राकृतिक बनावट

प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से भारत के छ प्राकृतिक भाग है। इनम से पर्वतीय तथा पठारी क्षेत्र, एक ओर वन सम्पदा तथा खनिज सम्पदा के भण्डार है तो दूसरी ओर जीवनदायिनी सतत् बहने वाली नदियो के स्रोत है। मैदानी क्षेत्र कृषि पैदावार के लिए समृद्ध है। भारत की प्राकृतिक बनावट इसकी समृद्धि म सहायक है।

(घ) पर्याप्त जल स्रोत

भारत मे सतत् बहने वाली नदिया, वर्ष भर जल उपलब्ध करने हेतु झीले व तालाब पर्याप्त मात्रा म है तो दूसरी ओर भूमिगत जल की भी कमी नही है। वर्षा का अधिकाश जल समुद्र मे बहकर चला जाता है। अत उसके भावी उपयोग की सम्भावनाए काफी अधिक है।

(ङ) अनुकूल जलवायु

जलवायु भी भारत की महत्वपूर्ण सम्पदा है। इसके कारण भारत मे कृषि फसलो की विविधता, पर्याप्त वर्षा, अनुकूल तापक्रम सम्भव हो पाया है। वर्ष भर परिवहनादि साधनो का प्रयोग जलवायु की अनुकूलता के कारण ही सम्भव हुआ है।

(च) अथाह खनिज सम्पदा

विश्व के खनिज भण्डार की दृष्टि से भारत का महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व के कुल खनिज लोहे का 1/4 भाग भारत मे स्थित है। मैगनीज उत्पादन म विश्व मे भारत का दूसरा स्थान है। भारत विश्व का सबसे बडा अभ्रक उत्पादक देश है। इनके अतिरिक्त बॉक्साइट, ताबा, टगस्टन, जस्ता, जिप्सम गन्धक, चूना तथा अणु खनिज का भारत म विशाल भण्डार भरा पडा है।

(छ) विशाल वन सम्पदा :

भारत के सम्पूर्ण क्षेत्र का लगभग 23% भाग वनों से आच्छादित है। वन से प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों का ईंधन, टिम्बर व औद्योगिक उपयोग की लकड़ी तथा बांस, गोंद, कत्था, लाख, रंग-रोगन का सामान, तारपीन का तेल, जड़ी बूटियां आदि वस्तुएँ प्राप्त होती है।

(ज) शक्ति के विशाल स्रोत :

भारत में कोयला, खनिज तेल तथा लकड़ी शक्ति के अथाह भण्डारों के अतिरिक्त जल-विद्युत शक्ति के विशाल स्रोत हैं। भारत में कोयले का अनुमानित भण्डार 8095 करोड़ टन है। अब भारत में शांतिपूर्ण कार्यों के लिए अणु-शक्ति का भी प्रयोग होने लगा है।

(झ) विशाल जनशक्ति :

सन् 1981 में भारत की जनसंख्या 68·38 करोड़ थी। जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में भारत का दूसरा स्थान है। विशाल जन-शक्ति उपभोग तथा उत्पादन दोनों को प्रोत्साहित करती है जिससे आर्थिक समृद्धि आती है। इस देश के विशालतम विकास कार्यों में यहां की मानव जनशक्ति का सर्वाधिक योग रहा है।

(ञ) तकनीकी ज्ञान :

विगत कुछ वर्षों से भारत में तकनीकी ज्ञान का तीव्र गति से प्रसार हुआ है। आज तकनीकी व्यक्तियों की दृष्टि से भारत का विश्व में तीसरा या चौथा स्थान हो गया है। तकनीकी व्यक्तियों की यह विशाल मानव शक्ति देश को शीघ्र सम्पन्न बना सकती है।

(ट) समुद्री सम्पदा :

समुद्र में अनेक प्रकार की सम्पत्तियों के भण्डार हैं। भारत के तीन ओर समुद्र है जो मत्स्य सम्पदा, नमक, खनिज तेल व अन्य अज्ञात खनिजों में धनी है। समुद्री लहरों से विद्युत उत्पादन के प्रयास से इसका महत्व और भी बढ़ा देते है।

(ठ) पशु सम्पदा :

भारत में पशुओं की संख्या विश्व में सर्वाधिक है। कृषि उद्योग तो पशुओं पर ही निर्भर होता है। भारत में कृषि का मशीनीकरण न होने से पशुओं का महत्व और भी बढ़ जाता है।

3. भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन के कारण :

भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एक अति सम्पन्न राष्ट्र है, परन्तु वर्तमान में भारत सम्पन्नता में दरिद्रता का प्रतीक है यहाँ के निवासी दरिद्र है। निम्न तथ्य इस कथन की पुष्टि करते हैं :

(क) प्रति व्यक्ति कम आय—भारतवासियों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। भारत में 1970-71 के स्थिर मूल्यों के आधार पर 1980-81 में प्रति

व्यक्ति आय 696 रु. वार्षिक थी। जनसंख्या वृद्धि के कारण भारत में तीव्र गति से बढ़ी राष्ट्रीय आय भी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि नहीं कर सकी। फलत. लोगों का जीवन स्तर भी अत्यन्त निम्न है।

(ख) निम्न जीवन स्तर—भारत में लगभग 40 प्रतिशत ऐसे व्यक्ति है जिनकी मासिक आय न्यूनतम स्तर से भी नीचे अर्थात् 20 रु से भी कम है। भारतीय व्यक्ति को प्रतिदिन केवल 1800 कैलोरीज पौष्टिकता, 15 0 मीटर वस्त्र 7 5 किग्रा चीनी, 5·2 किलोग्राम खाद्य तेल व वनस्पति प्रतिवर्ष औसतन मिलती है। शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत केवल 36 है। देश में आवास समस्या व बेरोजगारी ने भीषण रूप धारण कर रखा है। विज्ञान व तकनीकी पर राष्ट्रीय समिति के अनुसार "वर्तमान में भारत में 40 लाख मकानों की कमी है व 1 करोड़ 90 लाख मकान रहने के स्तर के नहीं हैं।"

(ग) भीषण बेरोजगारी—भारत म बेरोजगारी व अर्द्ध बेरोजगारी का साम्राज्य है। भारत में जनसंख्या की अपेक्षा रोजगार सुविधायें बहुत धीमी गति से बढ़ रही हैं। बेरोजगार व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से भी अच्छे नहीं होते हैं क्योंकि वे अन्तत चोरी, डाके व हत्याओं को अपनाते है। 1983 में भारत म बेरोजगारों की संख्या 2·15 करोड़ थी। इतनी प्रचुर मात्रा में बेरोजगारी के कारण लोग निर्धन है।

(घ) पूंजी निर्माण की निम्न दर—भारत में लोगों को खाना, कपड़ा व आवास व्यवस्था ही पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। फलस्वरूप पूंजी निर्माण की दर अत्यधिक कम है। 1980-81 में पूंजी निर्माण की दर केवल 16 99% थी। फलतः हमें विदेशी ऋण लेने पड़ते है जिन पर अत्यधिक ब्याज देना पड़ता है।

(ङ) परिवहन सुविधाओं का अभाव—चूंकि देश की समस्त वितरण व्यवस्था परिवहन साधनों पर निर्भर होती है अत देश के अधिक विकास में परिवहन साधनों का अत्यधिक महत्व है। परिवहन व्यवस्था की कमी के फलस्वरूप गरीब लोगों तक आवश्यकता की मुख्य वस्तुएं नहीं पहुँचाई जाती।

(च) स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव—भारत म अब भी लाखों व्यक्ति उचित चिकित्सा व्यवस्था के अभाव में मृत्यु के ग्रास बन जाते है। देश म डाक्टरों, चिकित्सालयों एवं दवाओं का भारी अभाव है। स्थिति निर्धनता की ही परिचायक है।

(छ) गन्दी बस्तियां—भारत म हर शहर एवं कस्बों में गन्दी बस्तियां अत्यधिक है क्योंकि वहां पर्याप्त आवास व्यवस्था का अभाव है। गांवों म भी झुग्गी-झोंपड़ियां गरीबों की नग्न कहानी सुनाती है।

(ज) विदेशी ऋण भार—भारत ने 1980-81 तक 17,374 करोड़ रु के विदेशी ऋण लिये। इन ऋणों के ब्याज व मूलधन की अदायगी का बहुत बड़ा

भार देश को वहन करना पड़ रहा है। 1980-81 में 867 करोड़ रु. ब्याज व मूलधन की अदायगी के चुकाये गये जो 1981-82 में 837 करोड़ रु. रहे।

(भ) आन्तरिक ऋण ग्रस्तता—भारत के अधिकांश कृषक ऋणों में ही जन्म लेते है ऋण में बड़े होते और ऋण में ही मर जाते हैं। यह सब भारत में व्याप्त निर्धनता का ही परिचायक है।

(ञ) प्रति व्यक्ति कम उपभोग—भारत में सभी वस्तुओं का प्रति व्यक्ति कम उपभोग से भी यहां की निर्धनता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

(ट) पिछड़ी तकनीक का प्रयोग—भारत में आज भी कृषि, उद्योग, निर्माण कार्यों, यातायात, सेवाओं तथा वितरण आदि कार्यों में अत्यन्त प्राचीन व पिछड़ी हुई तकनीक का प्रयोग किया जाता है। जबकि अन्य विकसित राष्ट्रों में आधिक व वैज्ञानिक तकनीक का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। अतः देश में अपनाई जाने वाली पिछड़ी तकनीक और विभिन्न पिछड़े साधन भी भारत को निर्धन सिद्ध करते हैं।

4. भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास हेतु कतिपय सुझाव :

(अ) कृषि विकास के लिए सुझाव—

(1) भूमि के वितरण में विषमता का निवारण—स्वतन्त्रता पश्चात् भारत में जमींदारी व्यवस्था सरकारी रूप से समाप्त करदी गई परन्तु आज भी भूमि वितरण में अत्यधिक विषमताएँ विद्यमान हैं। बहुत सी जोतें बहुत छोटी-छोटी तथा बिखरी हुई हैं। अतः उन्हें आर्थिक जोतों में बदलने के लिए उनकी चकबन्दी करना आवश्यक है।

(2) कृषि उपकरणों व खादों की व्यवस्था—भारतीय कृषक आज भी पिछड़ी तकनीक से कृषि करता है जिससे उत्पादन में भारी गिरावट आती है। अतः कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि हेतु कृषक को उन्नत बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक औषधियां तथा कृषि औजार आदि उचित मूल्यों पर उपलब्ध कराये जावें।

(3) कृषि वित्त की व्यवस्था—भारतीय कृषकों को आधुनिक उपकरण व खाद आदि साधनों की व्यवस्था करने हेतु गांवों में बैंकों का अत्यधिक विकास किया जाना चाहिए जो कि उचित शर्तों पर कृषकों को ऋण आदि सहायता उपलब्ध करा सकें।

(4) कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार—एक कृषक कृषि विकास तथा आधुनिकीकरण की क्रियाओं में तभी लाभान्वित हो सकता है। जब उसे उसके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो। भारत में वर्तमान कृषि विपणन व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण है जिससे कृषकों को अपनी उपज का बहुत कम मूल्य मिल पाता है। अतः मण्डियों की स्थापना, आधुनिक गोदामों का निर्माण तथा ग्रामीण यातायात का सुधार करना आवश्यक है।

(5) गैर कृषि रोजगार मे वृद्धि—भूमि पर जनसख्या का दबाव कम करने हेतु ग्रामीण उद्योगो के विकास एव गैर-कृषि रोजगारो की वृद्धि द्वारा रोजगार अवसर बढाने की व्यवस्था की जानी चाहिये। इस दृष्टि से कुटीर उद्योग धन्धों तथा ग्रामोद्योगो का विकास प्रचुर मात्रा मे करना होगा।

(ब) औद्योगिक विकास हेतु सुझाव—

(1) सामाजिक उपरि पूजी की व्यवस्था—औद्योगिक विकास मे रेल-सड़क परिवहन, सचार, बन्दरगाह सुविधायें तथा शक्ति उत्पादन का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इनमे अप्रत्याशित लाभ की कमी के कारण निजी क्षेत्र विनियोजन नही करता है अत इनकी व्यवस्था सरकार को करनी चाहिये।

(2) आधारभूत उद्योगों की स्थापना—औद्योगिक विकास की गति तेज करने के लिए देश म आधारभूत एव पूजीगत उद्योगो की स्थापना की आवश्यकता होती है। आधारभूत उद्योगो मे लोहा एव इस्पात, भारी रसायन, भारी विद्युत मशीन निर्माण तथा इन्जीनियरिंग उद्योग मुख्य है। आधारभूत उद्योगो की स्थापना मे सार्वजनिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत म योजनाकाल मे सार्वजनिक क्षेत्र मे अनेक आधारभूत उद्योगो की स्थापना की गई है। अब इसके सफल सचालन तथा अधिकतम क्षमता तक प्रयोग करने की आवश्यकता है।

(3) नवीनीकरण की आवश्यकता—भारत मे अनेक सगठित उद्योग पिछले 50 60 वर्षो से कार्य कर रहे है। इन उद्योगो मे सूती वस्त्र, जूट तथा शक्कर आदि उद्योगो मे पुरानी घिसी हुई मशीनें है। जिनकी उत्पादन शक्ति कम है। अत इन उद्योगो मे नवीनीकरण व विकेन्द्रीकरण तथा उत्पादन लागत कम करने की आवश्यकता है।

(4) प्रबन्ध का व्यवसायीकरण—भारत म औद्योगिक प्रबन्ध का ढाचा परम्परागत है। नये उद्योगपति उद्योगो की श्रम समस्याओ तथा आधुनिक ढाचे को समझने मे असमर्थ होते है। अत औद्योगिक प्रबन्ध मे निखार लाने हेतु ऐस व्यावसायिक प्रबन्धो की नियुक्ति करना चाहिये जो आधुनिक प्रबन्ध तकनीक के विशेषज्ञ हो।

(5) औद्योगिक अनुसधान—भारत मे औद्योगिक अनुसन्धान की तरफ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। परिणामस्वरूप हमारे देश बहुत से उपभोक्ता बेकार हो जाते हैं। अत नवीनतम उत्पादन तकनीक को प्रतिष्ठापित करने हेतु औद्योगिक अनुसन्धान आवश्यक है।

(स) अन्य सुझाव—

(1) सरकारी उद्योगों का कुशल सचालन—देश म स्थापित सार्वजनिक प्रतिष्ठानो की प्रबन्ध व्यवस्था अत्यधिक अकुशल है। ये निरन्तर हानि पर चलते है तथा इनमे 20 से 50 प्रतिशत अप्रयोगिता क्षमता है। अत इनकी उत्पादन क्षमता

में तीव्र वृद्धि करने हेतु इनकी प्रबन्ध व्यवस्था में तीव्र गति से सुधार करना आवश्यक है।

(2) बचत एवं विनियोग में वृद्धि—तीव्र आर्थिक विकास करने हेतु देश के आन्तरिक स्रोतों में अत्यधिक वृद्धि करना चाहिये। ये स्रोत आन्तरिक बचतों एवं विनियोग दर पर निर्भर करते हैं। अतः कर-व्यवस्था वित्तीय संस्थाओं के ढांचे तथा विनियोग संस्थाओं की कार्य प्रणाली में सुधार अति-आवश्यक है। घरेलू बचतों को बढ़ाने तथा उनके संग्रहण की व्यवस्था की जानी चाहिये केवल अबद्ध विदेशी सहायता प्राप्त करने के प्रयास किये जाने चाहिये।

(3) सामाजिक चेतना—आज भारत का प्रत्येक नागरिक देश के विकास के प्रति तटस्थ है। सामाजिक सुधारों द्वारा उसमें चेतना जाग्रत की जाये और देश के आर्थिक विकास के लिए उसे अधिकाधिक कार्य करने को उकसाया जाये।

(4) प्रशासनिक सुधार—भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था अंग्रेजों के समय से ही भ्रष्ट हो चुकी है। अतः स्वच्छ एवं कुशल बनाने की आवश्यकता है। ईमानदार व कुशल प्रशासन ही सरकार की प्रगतिशील नीतियों व निर्देशों को शीघ्र लागू कर सकेगा।

(5) जन सहयोग—किसी भी देश का आर्थिक विकास तब तक असम्भव है जब तक देश का प्रत्येक नागरिक इसमें सक्रिय रूप से योगदान न करें। योजनाओं की सफलता तो जन सहयोग पर ही अवलम्बित है। अतः भारत के प्रत्येक नागरिक को गरीबी दूर करने के लिए 'निष्कर्म-काम' की प्रवृत्ति का परित्याग करके 'निष्काम-कर्म' की भावना अपने अन्दर पैदा करनी चाहिये।

5. उपसंहार।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भारत एक समृद्ध राष्ट्र है लेकिन उसमें निर्धन व्यक्ति निवास करते हैं। प्रचुरता के मध्य निर्धन भारतीय अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—(1) भारत में बचत, निवेश व पूंजी निर्माण-दर कम होने से प्राकृतिक साधनों के विदोहन हेतु पर्याप्त पूंजी उपलब्ध नहीं होती है। (2) भारतीय जनसंख्या की विकास कार्यों में अधिक सहयोगी नहीं है। भारत एक ऐसा देश है जो सभी प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न राष्ट्र है। यदि इन प्राकृतिक साधनों का सन्तुलित विकास के लिए प्रयोग किया जाए तो यह शीघ्र ही सम्पन्न राष्ट्र बन सकता है तथा आर्थिक विकास के लिए दिए गये सुझावों को व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करना चाहिये। इन सभी बातों का निष्कर्ष निम्न उदाहरण से स्पष्ट होता है:

'जब हम कहते हैं कि राष्ट्र साधनों से धनी है, तो इस कथन का तात्पर्य समकालीन ज्ञान और तकनीकी के सन्दर्भ में होता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र जो आज साधनों में निर्धन समझा जाता है। कुछ समय पश्चात् बहुत धनी समझा

जा सकता है। केवल इस कारण नहीं कि अज्ञात साधन खोज लिए गये है। लेकिन समान रूप से इसलिए भी कि ज्ञात साधनों के नये उपयोग भी ढूंढ लिए गये है।" अतः स्पष्ट है कि यदि भारतीय प्राकृतिक साधनो का पूर्ण विदोहन किया जाय तो भारत एक अति सम्पन्न देश बन सकता है।

1971 ई. मे प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 'गरीबी हटाओ' के आकर्षक नारे पर ससद मे दो-तिहाई बहुमत प्राप्त किया था किन्तु विजय के बाद वे गरीबी समाप्त करने मे असफल रही है। भारत मे गरीबी दूर करने के लिए जनसख्या की वृद्धि दर कम करना जरूरी है। परिवार नियोजन के माध्यम से इस दिशा मे पर्याप्त काम किया जा रहा है किन्तु अभी जनसख्या वृद्धि दर को कम नही किया जा सका है। इस सम्बन्ध मे बल प्रयोग सम्भव नहीं है और प्रचार का असर धीरे-धीरे होता है।

गरीबी दूर करने के लिए उत्पादन बढाना भी बहुत जरूरी है। ज्यादा उत्पादन बढाने से ज्यादा रोजगार के साधन बनते है और रोजगार बढने से गरीब की आमदनी बढती है। आजादी के बाद से भारत मे उत्पादन तथा उद्योग-धन्धे काफी बढे है किन्तु अभी इस दिशा मे काफी काम बाकी है। देहाती क्षेत्रो में उद्योग-धन्धो का बहुत अभाव है। इस कारण देहाती क्षेत्रो मे गरीबी भी ज्यादा है।

किन्तु इनके साथ देश के आर्थिक नीतियो मे बदलाव भी बहुत जरूरी है। वर्तमान आर्थिक नीतियो से एक ओर अमीरी बढती है और दूसरी ओर गरीबी बढती है। गरीबी की समस्या हल करने के लिए अमीरी पर रोक लगाना जरूरी है। जब तक आर्थिक नीतियो मे परिवर्तन नही किया जायेगा तब तक विकास और समृद्धि का लाभ कुछ थोडे से लोगो को मिलता रहेगा। भारत से गरीबी तभी मिट सकती है जब आमदनी का उचित वितरण हो। जब तक आमदनी का उचित वितरण नही होगा तब तक कुछ थोडे से लोग अमीर बने रहेंगे और अधिकाश लोग गरीबी का जीवन बिताते रहेंगे। अत: भारत मे गरीबी की समस्या के समाधान के लिए आर्थिक नीतियो मे बुनियादी परिवर्तन जरूरी है।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण तथा राजस्थान में पंचायती राज

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
3. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण अथवा पंचायती राज का स्वरूप
4. पंचायती राज संस्थाएँ : जिला परिषद्, पंचायत समिति एवं ग्राम पंचायत
5. राजस्थान में पंचायती राज का सूत्रपात एवं विकास : विभिन्न पंचायत चुनावों का सर्वेक्षण
6. पंचायतों के अधिकार एवं कर्त्तव्य
7. उपसंहार।

1. प्रारम्भिक

प्राचीन भारत में प्रत्येक गांव स्वशासित तथा आत्मनिर्भर था और अपनी पंचायत के द्वारा सब प्रकार का प्रबन्ध करता था। तत्पश्चात् प्राचीन भारत की पंचायत व्यवस्था नष्ट हो गई। महात्मा गांधी ने स्वतन्त्र भारत में फिर से पंचायत राज्य की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया था। पंचायत की व्यवस्था के द्वारा भारत का साधारण विकास तक स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भारत विभाजन से उत्पन्न अनेक समस्याओं से उलझा रहा अतः पंचायत राज्य की स्थापना की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। पं. जवाहरलाल नेहरू ने पंचायत राज्य की स्थापना की ओर कदम उठाया।

पंचायती राज की स्थापना भारतीय लोकतन्त्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। "लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण" और "पंचायती राज" दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। राजस्थान को यह पहला राज्य होने का गौरव प्राप्त है जिसने अपने यहां पंचायती राज की स्थापना की। 2 सितम्बर 1959 को राजस्थान विधान मण्डल ने सबसे पहले "पंचायत समिति और जिला परिषद् अधिनियम" पारित और तब 2 अक्टूबर 1959 को प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा पंचायती राज का उद्घाटन नागौर में किया गया। इसके बाद 11 अक्टूबर 1959 को श्री जवाहर

लाल नेहरू ने आन्ध्र में "त्रि-स्तरीय पचायती राज" का उद्घाटन किया और फिर यह व्यवस्था अन्य राज्यों में भी स्थान पाती गई—1960 में असम, मद्रास तथा मैसूर में, 1962 में महाराष्ट्र में, 1964 में पश्चिमी बंगाल में और तदुपरान्त दूसरे अनेक राज्यों में।

2. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्वाधीनता संघर्ष ने जब अपने अन्तिम चरण में प्रवेश किया और सारी जनता इसमें सक्रिय रूप से साझीदार हो गई तो स्वाभाविक था कि स्वराज्य के बारे में व्यापक दृष्टि से विचार किया जाता और उन लाखों लोगों की ओर विशेष ध्यान जाता जो भारत के लगभग 5 लाख गांवों में हीनता और दरिद्रता का जीवन बिता रहे थे। जब स्वराज्य की व्याख्या ठोस अर्थों में की जाने लगी तो पचायती राज ने इसमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान पाया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस बारे में काफी विवेचन किया। उन्होंने इस बात की व्याख्या की कि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ में इसका क्या अर्थ होता है ?

जब स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण हुआ तो राज्य नीति के निदेशक तत्वों में पचायती राज की धारणा को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। संविधान के अनुच्छेद 40 में यह प्रावधान किया गया—"राज्य ग्राम पचायतों की स्थापना के लिए आवश्यक कदम उठायेगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिये आवश्यक हों।" निःसन्देह ये शब्द थोड़े हैं पर इनका अर्थ व्यापक है।

सन् 1957 के नवम्बर में बलवन्त राय मेहता अध्ययन दल के प्रतिवेदन पर राष्ट्रीय विकास परिषद् ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। इस अध्ययन समूह ने जिस व्यवस्था को प्रस्तावित किया, उसे उन्होंने "लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण" की सज्ञा प्रदान की जिसका अभिप्राय था कि उसके अन्तर्गत प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर जनता सक्रिय रूप से भाग ले तथा जनता द्वारा गठित संस्थाएं ही सामुदायिक विकास की महत्वपूर्ण इकाइयां हों।

3 लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण या पचायती राज का स्वरूप

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण अथवा पचायती राज की संस्थाओं की योजना प्रस्तुत की गई। उसके तीन स्तर रखे गए—(1) ग्राम स्तर, (2) खण्ड या ब्लाक स्तर एवं (3) जिला स्तर। वास्तव में इस त्रिकोणात्मक व्यवस्था द्वारा देश के ग्रामीण जीवन को एक चेतना सौंपने का प्रयास किए जाने का प्रस्ताव किया गया ताकि राष्ट्रीय जनतन्त्र का आधार व्यापक और सुदृढ़ बन सके। प्रस्तावित योजना को स्वीकार कर लिया गया और तदनुसार ऊपर से नीचे की ओर तीन स्तरों पर क्रमश, जिला परिषदों, पचायत समितियों तथा ग्राम पचायतों का गठन किया गया

है। इस समूची व्यवस्था को "पंचायती राज" के नाम से पुकारा जाता है। पंचायती राज का उद्देश्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विकास योजनाओं से सम्बद्ध करना और प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर जनता को सक्रिय रूप से भागीदार बनाना है। अपने वर्तमान स्वरूप में पंचायती राज सामुदायिक विकास योजना की एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था है।

4. पंचायती राज संस्थाएँ—जिला परिषद्

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण अथवा पंचायती राज के स्वरूप की मोटी रूपरेखा हम प्रस्तुत कर चुके हैं। यद्यपि देश की पंचायत राज संस्थाओं के संगठन, कार्यकाल आदि में एकरूपता नहीं है, तथापि मोटे रूप में इनके बहुत कुछ लक्षण सामान्य हैं। यदि हम राजस्थान राज्य संस्थाओं का विस्तार से अध्ययन करें तो हमें देश में पंचायती राज संस्थाओं की सामान्य रूपरेखा का स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा।

जिला परिषद् पंचायती राज की सर्वोच्च संस्था है जिसे अधिकारों और कर्तव्यों का विवरण "राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम, 1959" की धारा 57 में दिया गया है। राजस्थान के 27 जिलों में प्रत्येक के लिए एक जिला परिषद् है। जिला परिषद् का प्रत्यक्ष चुनाव नहीं होता। इसका निर्वाचन तीन वर्ष के लिये होता है।

विकास खण्ड के प्रशासन क लिए एक पचायत समिति होती है। प्रारम्भ म राजस्थान को 236 विकास खण्डो मे बाटा गया था और प्रत्येक म पचायत समिति की स्थापना की गई थी। वर्तमान मे 236 पचायत समितिया स्थापित हो चुकी हैं। पचायत समिति का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है।

सशोधित अधिनियम के अनुसार पचायत समिति के प्रधान का चुनाव एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है जिसम य सदस्य सम्मिलित होते है—(1) पचायत समिति के पदेन एव सहवृत सदस्य तकिन एस डी ओ निर्वाचक मण्डल का सदस्य नही होता, एव (2) खण्ड क्षेत्र की सभी पचायतो के निर्वाचित और सहवृत या सहयोजित सदस्य। स्पष्ट है कि सशोधित अधिनियम द्वारा प्रधान क चुनाव का आधार विस्तृत कर दिया गया है।

अपन क्षेत्र की सभी विकास योजनाओ को कार्यान्वित करने का भार पचायत समिति पर होता ह। अपन कार्यों को अच्छ ढग स चलाने क लिए यह अनेक स्थाई समितियो का निर्माण करती है। प्राय प्रत्यक स्थाई समिति म 7 से अधिक सदस्य नही होते। पचायत समिति अपने अधिकारो को इन स्थाई समितियो को उनके कार्यों क अनुसार सुपुर्द कर दती ह। इन समितियो क निर्णय पचायत समिति के निर्णय माने जात है, लकिन अन्तिम अधिकार और उत्तरदायित्व पचायत समिति के ही होते है। इस दृष्टि से पचायत समिति को अधिकार होता है कि स्थाई समितियो के निर्णयो को रद्द करदें या उनम सशोधन करदें।

पचायत

पचायतें पचायती राज की आधारशिलाएँ है। पचायतो की सुदृढता और शक्ति पर ही पचायत राज का सफल और प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन एक बडी सीमा तक निर्भर करता है। इस समय राजस्थान म ऐसा कोई गाव नही है जो किसी न किसी पचायत समिति क अधीन न आता हो। पचायत ग्राम सभा की कार्यकारी इकाई होती ह। यह सभा द्वारा चुनी जाती है। पचायत के चुनाव गुप्त मतदान द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रति तीसरे वर्ष किय जाते हैं। पचायत के सदस्य पच कहलाते है जिनका चुनाव प्रत्यक्ष रूप स किया जाता है। प्रत्येक पचायत मे उनकी सख्या गाव की जनसख्या के अनुसार 5 स 20 तक होती है। चुनावो की दृष्टि स, पचायत का क्षेत्र उतने ही वार्डों म विभाजित कर दिया जाता है जितने पच चुने जाते है। प्रत्यक व्यक्ति जो राजस्थान विधान सभा के उस चुनाव क्षेत्र का निवासी हो जिसमे वह पचायत स्थित है, पच का चुनाव लड सकता है किन्तु वह व्यक्ति मत उसी वार्ड म दे सकता है जिसम उसका घर है। प्रत्येक पचायत म एक सरपच होता है जो पचायत का मुखिया है। उसका चुनाव पचायत क्षेत्र के सभी मतदाताओ द्वारा किया जाता है। सरपच और निर्वाचित पचो के अतिरिक्त, सन् 1964 के अधिनियम सशोधन के अन्तर्गत दो महिलाओ, एक अनुसूचित जाति के

सदस्य तथा एक अनुसूचित जनजाति के सदस्य के सहयोजन की व्यवस्था की गई बशर्ते कि वे पच के रूप में न चुने गए हों।

5. राजस्थान में पचायती राज का सूत्रपात एवं विकास : विभिन्न पच चुनावों का सर्वेक्षण—राजस्थान को यह श्रेय प्राप्त है कि आजादी के पश भारत में पचायती राज की शुरुआत राजस्थान में हुई। 1960 में सर्वप्रथम पचायत कानून के अनुसार समस्त प्रान्त में चुनावों का आयोजन किया गया।

1964–65 ई. में राजस्थान में दूसरी बार पंचायत चुनाव हुए। कि इसके बाद पचायत चुनावों का नियमित क्रम बिगड़ गया। राजस्थान सरकार ' साल के पचायत राज के अनुभव के आधार पर कुछ नयी व्यवस्था बनाना चा थी। श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में इसके लिए एक समिति बनायी गय कई वर्ष बाद उस समिति ने अपनी रिपोर्ट दी और फिर कई वर्ष उसके अध्य तथा उस पर निर्णय लेने में लग गये। फिर बंगला देश की क्रान्ति, जयप्रकाश समग्र क्रान्ति आन्दोलन और आपात काल की घोषणा के कारण पचायत चुनाव हो पाये।

जून 1977 ई. राजस्थान में जनता पार्टी की सरकार बनी। नयी सर ने तेरह वर्ष बाद 1978 ई. के आरम्भ में ग्राम पंचायतों के तीसरी बार चु कराये किन्तु जनता पार्टी के परस्पर विग्रह के कारण इससे आगे पंचायत स तथा जिला परिषद् के चुनाव नहीं हो सके। अनिश्चय की स्थिति में ही जनता ' का शासन समाप्त हो गया। 1980 ई. में राजस्थान में पुनः कांग्रेस दल की सर बनी। श्री जगन्नाथ पहाड़िया तो पंचायतों के नये चुनाव नहीं करा सके कि 1981 ई. में श्री शिवचरण माथुर ने ग्राम पंचायतो के चौथे चुनाव पूरे करा कि 1978 ई. में चुनी गयी ग्राम पंचायतों को तीन साल की अवधि पूरी हो कारण भंग कर दिया गया और ग्राम स्तर में ही नये पंचायत चुनाव कराये गये

ग्राम स्तर पर इन चुनावों में राजनैतिक दलों ने प्रत्यक्ष रूप में भाग लिया था। चुनाव के बाद कांग्रेस तथा मुख्य विपक्षी दल भारतीय जनता पा अपनी-अपनी विजय के दावे प्रस्तुत किये। पंचायत समिति तथा जिला परिषद चुनाव दलीय आधार पर हुए। कुछ नगरीय क्षेत्र बढ जाने के कारण अब राजस में 235 पचायत समिति हैं। इनमें से 181 समितियों में कांग्रेस के प्रधान गये। भारतीय जनता पार्टी ने 18, जनता पार्टी ने 8, लोकदल ने 7, मार्क्स ने 4 तथा निर्दलीय उम्मीदवारों ने 17 पचायत समितियों के प्रधान पद प्राप्त कि राज्य की सभी 26 जिला परिषदों के चुनावों में कांग्रेस ने सफलता प्राप्त की।

6. पचायतों के अधिकार एवं कर्त्तव्य

पचायत वास्तव में ग्राम स्तर की स्वायत्तशासी संस्था है, अतः उसे

अधिकार दिये गये हैं जो उसे अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए आवश्यक हैं। पचायत लिखित सूचना देकर किसी इमारत के स्वामी या रहने वाले को सार्वजनिक मार्ग या नाली पर से अतिक्रमण हटाने की आज्ञा दे सकती है इसी प्रकार किसी मकान मालिक या उसके निवासी को यदि उसके शौचालय पानी की मोरी या कूडा करकट डालने के स्थान के कारण जनता को तकलीफ हो तो जो पचायत उचित समझे वैसी कार्यवाही करने की आज्ञा दे सकती है।

पचायत जन स्वास्थ्य की सुरक्षा की दृष्टि से किसी कुए तालाब या अन्य गडढो के पानी के उपयोग पर रोक लगा सकती है तथा इसी प्रकार पीने के पानी कुआ तालाबो आदि पर पशुओ को पानी पिलाने अथवा नहाने धोने पर भी रोक लगा सकती है। वह गाव में गडडे खोदने या सावजनिक मार्ग को खराब करने से भी किसी को रोक सकती है।

गाव के भीतर मरने वाले पशुओ के शवो को किसी निश्चित स्थान पर डलवाने किसी मकान मालिक या निवासी को अपने मकान को साफ सुथरा रखने या पुराने या खतरनाक मकान या उसके किसी ऐसे भाग को जिसके गिरने का खतरा हो, तुडवाने या मैला या कूडा-करकट किसी निश्चित स्थान पर ही डालने को पाबन्द कर सकती है। वह खाने पीने की चीजो को जो मनुष्य के खाने लायक न रही हो, बेचने या खुली रख कर बेचने पर भी रोक लगा सकती है।

पचायत सार्वजनिक रास्तो को या पुलिया आदि के आसपास में खेतो को कम से कम नुकसान पहुँचाते हुए चौडा कर सकती है या उनमे सुधार कर सकती है।

राज्य सरकार ने पचायतो को गावो के छोटे-मोटे झगडे समाप्त करने के लिए भी अधिकृत किया है और इसीलिए पचायतो को कुछ राजस्व अधिकार भी दिये हैं। इन राजस्व अधिकारो के अन्तर्गत पचायतो से यह अपेक्षा की गयी है कि वे गावो मे खेतो की सीमा, रास्ते व आने जाने के अधिकार के बारे में तात्कालिक निर्णय दे सकती है।

इसी प्रकार पचायत की भूमियों मे खेतो के सीमा सम्बन्धी झगडे निपटाने के अधिकार भी पचायतो को है। खेतो की सीमा के बारे मे झगडो का निपटारा करने के जो अधिकार तहसीलदार के पास थे उन्हे राज्य सरकार द्वारा पचायतो को प्रदान कर दिया गया है। पचायत के निर्णय के विरुद्ध यदि अपील करनी हो तो वह सम्बन्धित जिलाधीश को प्रस्तुत की जायगी।

पचायत द्वारा अपने कर्तव्य पालन के लिए प्रशासनिक अधिकारो का प्रयोग कर जो निर्णय दिये जाते हैं उनकी अपील सम्बन्धित पचायत समिति की प्रशासन वित्त कर स्थायी समिति को पेश की जाती है। किन्तु राजस्व सम्बन्धी उक्त मामलो मे किए गये पचायत के फैसले के विरुद्ध अपील पचायत समिति मे न कर सम्बन्धित जिलाधीश के समक्ष पेश की जायेगी।

सार्वजनिक रास्तों या ऐसे स्थानों में, जो किसी की निजी सम्पत्ति न हो और जो जनता के लिए खुले हुए हों, ऊपर झुके हुए हिस्से को हटाना, रास्तों, नालियों की मरम्मत, पचायत के अधिकार के सार्वजनिक भवनों, चारागाहों, वन भूमियों, बुर्ग्रों, व तालाबों का निर्माण, पचायत क्षेत्र में रोशनी की व्यवस्था करना, मेलों, बाजारों हाट या तांगा स्टेण्ड तथा गाड़ियों के ठहरने के स्थानों का नियमन, शराब की दुकानों व बूचडखानों का नियन्त्रण, सार्वजनिक रास्तों या स्थानों में वृक्ष लगाना तथा उनकी सम्भाल करना, आवारा कुत्तों को पकड़ना, धर्मशालाओं का निर्माण व सभाल, स्नानघर या घाटों का निर्माण, आबादी स्थानों का विकास व विस्तार, पशुओं के लिए पोखर आदि की व्यवस्था गोदामों का निर्माण आदि।

शिक्षा का प्रसार, अखाडों, क्लबों तथा मनोरंजन एवं खेल-कूद के अन्य स्थानों की स्थापना एवं उनका रख-रखाव, कला एवं संस्कृति की उन्नति के लिए थियेटरों की स्थापना एवं उनका संधारण, पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की स्थापना एव उनका सधारण, सार्वजनिक रेडियो सैट्स एवं ग्रामोफोनों का लगाना, पंचायत क्षेत्र में सामाजिक एवं नैतिक उत्थान करना जिसमें मद्यनिषेध को प्रोत्साहन, अस्पृश्यता निवारण, पिछड़ी जातियों की स्थिति में सुधार, भ्रष्टाचार का उन्मूलन तथा जुआ एव निरर्थक मुकद्दमेबाजी को निरुत्साहित करना सम्मिलित है।

भूमि सुधार की स्कीमों को कार्यान्वित करने में सहायता, अपंगों, निराश्रितों तथा रोगियों को राहत, दैवी प्रकोप के समय क्षेत्र के निवासियों की सहायता, पचायत क्षेत्र में भूमि तथा अन्य ससाधनों के सहकारी प्रबन्ध की व्यवस्था करना और सामूहिक खेती, उधार समितियों तथा बहुउद्देशीय सहकारी समितियों का सगठन करना, राज्य सरकार की पूर्व अनुमति से बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना और ऐसी भूमि पर खेती करवाना, सामुदायिक कार्यों तथा पंचायत क्षेत्र की उन्नति के कार्यों के लिए स्वैच्छिक श्रम का पालन करना, सस्ते भाव दुकानें खोलना, परिवार नियोजन का प्रसार करना।

यदि कोई व्यक्ति पचायत द्वारा अपने कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध में दिये गये निर्देशों या आज्ञा का उल्लंघन करे तो पंचायत उसको पन्द्रह रुपये तक के जुर्माने का दण्ड दे सकती है और यदि पंचायत के निर्देशों की अवज्ञा जारी रहे तो पहले दिन के बाद जितने दिन जारी रहे प्रतिदिन एक रुपये तक के जुर्माने का दण्ड और दे सकती है।

पचायत द्वारा किया गया जुर्माना तथा किसी कार्य के किये जाने का खर्चा उसी ढग से वसूल किया जा सकता है जिस प्रकार पंचायत द्वारा लगाये गये कर वसूल किये जाते हैं।

7. उपसंहार

ग्राम स्तर पर विकास कार्यक्रमों में पंचायती राज संस्थाओं के महत्व तथा

ग्राम विकास की प्रक्रिया में उनके पूरे सहयोग के बारे में आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार के मन्त्रिमण्डल सचिवालय म श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता म एक उच्चाधिकार कमेटी गठित की ताकि इन निकायों की कमजोरियों का मूल्यांकन किया जा सके, और उन्हे मजबूत बनाने के लिए उपाय सुझाये जा सकें।

समिति की सिफारिशो म मूल भावना यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर पचायती राज को सस्थागत रूप प्रदान किया जाय। समिति ने अपनी सिफारिशो मे कहा है कि सविधान म सशोधन कर राज्य सरकारो द्वारा पचायती राज सस्थाओ को और अधिकार दिये जायें। समिति का मुख्य सुझाव यह है कि ग्राम पचायतो की जगह मण्डल पचायतो की स्थापना की जाये तथा जिला परिषदो को मजबूत बना कर जिलाधीश सहित जिला स्तर के सभी अधिकारियो को अन्तत उनके अधीन रखा जाय।

1981 ई के चौथे पचायत ग्राम चुनाव के बाद राजस्थान मे कई वर्षों बाद फिर से पचायत राज की पूर्ण स्थापना हो गई है। यह आशा की जाती है कि ग्रामीण क्षेत्रों मे विकास कार्यों को अब नई दिशा मिलेगी और ग्रामीण क्षेत्रो की समस्याओ का शीघ्रता से समाधान किया जा सकेगा। पचायत हमारी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का मूल आधार है। इनके सफल सचालन से एक ओर विकास की गति तीव्र होगी तो दूसरी ओर हमारी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था भी मजबूत होगी। यह जरूरी है कि दलीय राजनीति से मुक्त होकर पचायत राज्य के सभी सदस्य तथा अधिकारी अपने अपने क्षेत्रों के विकास के लिए तत्परता से काम करें।

भारत में राष्ट्रपति शासन प्रणाली का औचित्य

सामान्य अवलोकन

1 प्रारम्भिक
2. ऐतिहासिक विवेचन एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण
3. संसदीय शासन प्रणाली तथा उसके गुण-दोष
4. राष्ट्रपति शासन प्रणाली व उसके गुण-दोष
5 क्या हमारी संसदीय शासन प्रणाली पूर्णतया असफल हो गई है
6. उपसंहार।

1 प्रारम्भिक

भारत में राष्ट्रपति शासन प्रणाली लागू करने के अभियान को प्रारम्भ हुए दस वर्ष से ऊपर हो चुके हैं, लेकिन आपात स्थिति को छोड़कर यह बहस कभी इतनी गम्भीर नहीं थी, जितनी 1984 के गत महीनों में।

ऐसी सम्भावना है कि शीघ्र ही सदन को संविधान सभा में परिवर्तित कर दिया जायगा। मौजूदा वेस्टमिनिस्टर ढांचे को बदलकर अमेरिका या फ्रांस जैसी राष्ट्रपति प्रणाली का ढांचा अपनाने का फैसला किया जा चुका है। इसे हम समय की विडम्बना ही कह सकते हैं कि संसदीय शासन प्रणाली, जो वर्तमान में प्रचलित है, के स्थान पर अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की मांग की जा रही है। भारत में जब अंग्रेजों का शासन था तभी से उत्तरदायी शासन की मांग की जा रही थी और तत्कालीन शासकों ने भी क्रमिक रूप से संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना करने का प्रयास किया था। सर्वप्रथम व्यवस्थापिका का विकास किया गया। तदुपरान्त द्वैध शासन प्रणाली और प्रान्तीय स्वायत्तता प्रदान की गई। इसी क्रम में स्वतन्त्रता के उपरान्त सार्वभौम प्रभुसत्ता सम्पन्न गणराज्य की स्थापना के साथ ही संसदीय शासन प्रणाली को केन्द्र एवं राज्यों में आरम्भ किया गया। 1950 में संविधान प्रारम्भ होने से लेकर वर्तमान समय तक यही व्यवस्था बनी हुई है। 1976 के अन्त में यह स्वर सुनाई देने लगा है कि संसदीय शासन प्रणाली से इच्छित परिणाम प्राप्त होने में कठिनाइयाँ अधिक हैं। अतः अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को अपनाया जावे। पिछले दिनों अधिवक्ता सम्मेलन में भी स्पष्ट रूप से

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की माग की गई है। प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने भी इस विषय पर राष्ट्रीय स्तर पर वाद विवाद का आग्रह किया है। अत यह प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया है, और इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

अनेक बुद्धिजीवी भी देश की वर्तमान राजनीति से असन्तुष्ट होकर ससदीय शासन प्रणाली का विकल्प खोजने म लगे हुए है। वे राष्ट्रपति शासन प्रणाली को एक विकल्प के रूप म खोजने लग गए हैं। यदि सरकार देश की गम्भीर समस्याओ के प्रति उदासीन बनी रहे—पजाब तथा आसाम जैसी समस्याओ को टालती रहे, दल टूटते बिखरते रहे, स्वच्छ राजनीतिक परम्परायें, दल-गत राजनीति म परिवर्तित होती रहे, ससदीय वाद-विवाद के कारण विधि निर्माण म विलम्ब होता रहे, विधानमण्डलो म बहस का स्तर गिरता रहे, क्षेत्रीय भावनाओ के उद्वेलित होने व फलस्वरूप राष्ट्रीय समस्यायें ओझल हो जाये हिंसा का हर जगह बोल-बाला हो जाय तो बुद्धिजीवियो को राष्ट्रपति शासन प्रणाली की ओर स्वाभाविक रूप स आकर्षित होना पडता है।

2 ऐतिहासिक विवेचन एव तुलनात्मक दृष्टिकोण

गाधीजी ससदीय प्रणाली के आलोचक थे। इसका कारण यह था कि व सत्ता की बागडोर जनता के ऐसे निर्वाचित प्रतिनिधियो के हाथ म नही देना चाहते थे, जो उससे बहुत दूर हो। वे जनता के स्वशासन और पचायतीराज के पक्ष म थे और विकेन्द्रीकरण वाली व्यवस्था को चाहते थे। वे दलगत राजनीति भी बदलते, क्योकि जिस सीमा तक दल जनता के अधिकारो को उनसे छीन लेते है, उसके नाम पर दावेदार बन बैठते हैं। वह उनको पसन्द न था। वे ससदीय प्रणाली के स्थान पर राष्ट्रपति शासन प्रणाली को पसन्द न करते, क्योकि जनता के द्वारा चुने जाने पर जो व्यक्ति राष्ट्रपति बनता, वह जनता के अधिकारों का इस्तेमाल करता, जबकि वह उससे बहुत दूर और बहुत अलग होता है। किन्तु इसके प्रतिकूल नेताजी सुभाषचन्द्र बोस पूरे राष्ट्र की सकल्पशक्ति को सुदृढ हाथो मे देना चाहते थे, ताकि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि उसकी भावनाओ और आकाक्षाओ के अनुकूल राज्य व्यवस्था का निर्माण कर सकें, ताकि अधूरे मन व बिखर हुए, सोच-विचार के आधार पर देश को न चलाया जाय। ग्राम पचायतो को स्वशासन क अधिकारो से सुसज्जित करने के पक्षधर होकर भी नेताजी केन्द्र मे सुदृढ व्यक्तित्व को बिठाने के उद्देश्य से विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध म गाधीजी के विचार को स्वीकार नही कर पाये।

सविधान के निर्माताओ ने सोच-विचार कर, ससदीय शासन प्रणाली को चुना है। भारत के लोग ससदीय शासन प्रणाली स भली-भाति परिचित थे। ऐसी शासन-व्यवस्था की कार्यप्रणाली सरल होती है और इसलिए भारत के लिए यह

प्रणाली उपयुक्त समझी गयी। इस सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था "संसदीय शासन प्रणाली में शासन के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन समय-समय पर होता रहता है।" अतः यह व्यवस्था भारतीय प्रशासन की सर्वोत्तम व्यवस्था मानी गई।

फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित राष्ट्रपति प्रणाली को सामने रखकर भी इन दो दृष्टिकोणों को समझने में सहायता मिल सकती है। अमेरिका में संविधान निर्माताओं ने राज्यों के अधिकारों को अक्षुण्ण रखने पर बल देकर संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन प्रणाली को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु फ्रांस में सन् 1946 से लेकर 1958 तक मन्त्रिमण्डलों की अस्थिरता को जारी रखते हुए वहां के राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण अधिकार दिये गये। फ्रांस में विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीय स्वशासन की प्रक्रियायें पहले ही कमजोर होती जा रही थीं। यह उल्लेखनीय है कि सन् 1981 में समाजवादी नेता मित्तरां के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के बाद क्षेत्रीय स्वशासन और विकेन्द्रीकरण को प्रभावकारी बनाने की व्यवस्था की गई है। 1972-73 में समाजवादी दल ने जो घोषणापत्र जारी किया था, उसमें क्षेत्रीय स्वशासन और सामाजिक समूहों की स्वायत्तता पर अधिक बल दिया गया था। फ्रांस के सन्दर्भ में एक दिलचस्प बात यह है कि राष्ट्रपति 1958 से लेकर 1984 तक के 25-26 वर्षों में राजनैतिक दलों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई है, जबकि हमारे यहां बार-बार यह तर्क दिया जाता है कि अमेरिका में दो ही बड़े दल हैं और वह इसके फलस्वरूप ही वहां पर राष्ट्रपति शासन अधिक सफल सिद्ध हुआ है।

अमेरिका संसार का सर्व शक्तिशाली और समृद्ध राष्ट्र है। संसार में पहला लिखित संविधान भी अमेरिका में ही बनाया गया था। वहां आरम्भ से ही राष्ट्रपतीय पद्धति की शासन प्रणाली अपनायी गयी है और 200 वर्ष से वहां यही शासन प्रणाली सफलतापूर्वक चल रही है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को अच्छी तरह समझने के लिए अमरीका की शासन पद्धति का विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। अमेरिका में राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्ष है और प्रति चार वर्ष बाद नवम्बर में सभी अमरीकी मतदाता प्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। अमरीका का राष्ट्रपति संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति माना जाता है क्योंकि उसे शासन चलाने के बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हैं। वह अमरीकी संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। वह किसी भी व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल में नियुक्त कर सकता है और कभी भी, किसी भी सदस्य को मन्त्रिमण्डल से हटा सकता है। अमरीका में ऐसे राष्ट्रपति भी हुए हैं जिनके मन्त्रियों को राष्ट्रपति के महत्वपूर्ण निर्णयों की सूचना समाचार-पत्रों से ही मिलती थी, अमरीकी संसद राष्ट्रपति के प्रति अविश्वास भी प्रकट नहीं कर सकती। राष्ट्रपति को सिर्फ महाभियोग के द्वारा ही हटाया

जा सकता है। किन्तु अमरीका के 200 वर्षों के इतिहास में किसी भी राष्ट्रपति को इस प्रकार नहीं हटाया जा सका है। अमरीकी राष्ट्रपति संसद के द्वारा स्वीकृत निर्णयों पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। और यदि संसद एक निश्चित अवधि के भीतर उसे दुबारा पारित नहीं करती है तो वह निर्णय निरस्त हो जाता है। सभी महत्वपूर्ण राजकीय नियुक्तियाँ भी राष्ट्रपति करता है। यद्यपि उनके लिए सिनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है।

यद्यपि अमेरिका के संविधान में राष्ट्रपति, संसद तथा न्यायपालिका के बीच सन्तुलन स्थापित किया गया था किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति बहुत शक्तिशाली हो गया है। अमेरिकन राष्ट्रपति पर अपनी पार्टी का दबाव भी नहीं होता है। राष्ट्रपति बनने के बाद वह अपने आप दल का सर्वोच्च नेता बन जाता है।

फ्रांस में भी राष्ट्रपति-पद्धति की शासन प्रणाली है यद्यपि अमेरिका की तुलना में वहां की पद्धति कुछ भिन्न है। फ्रांस में पहले संसदीय प्रणाली की ही शासन पद्धति थी किन्तु 1958 में जनरल डीगाल ने वहां राष्ट्रपतीय पद्धति की शासन प्रणाली स्थापित कर दी। फ्रांस में राष्ट्रपति का चुनाव सात वर्ष के लिए होता है और उसे मतदाता प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा निर्वाचित करते हैं। सात वर्ष की अवधि काफी बड़ी अवधि है। इसके साथ फ्रांस में पांच वर्ष की अवधि के लिए संसद का चुनाव भी होता है। अमरीका में प्रधानमन्त्री का पद नहीं है किन्तु फ्रांस में प्रधान मन्त्री का पद भी है। संसद में बहुमत दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। प्रधानमन्त्री एक ओर संसद के प्रति उत्तरदायी होता है तो दूसरी ओर राष्ट्रपति के प्रति भी उत्तरदायी होता है। राष्ट्रपति संसद को कभी भी भंग कर सकता है और प्रधान मन्त्री को भी अपने पद से हटा सकता है। फ्रांस में 1981 ई. में समाजवादी दल के नेता श्री मित्तरा सात वर्ष के लिए राष्ट्रपति निर्वाचित हुए हैं। राष्ट्रपति बनते ही उन्होंने पुराने प्रधानमन्त्री को पद से हटा दिया और अपने दल के व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने संसद को भी भंग कर दिया और संसद का नया चुनाव करा लिया जिसमें उनके दल को बहुमत मिल गया।

3 संसदीय शासन प्रणाली तथा उसके गुण-दोष

हमारे संविधान में केन्द्र और प्रत्येक राज्यस्तर पर संसदीय शासन प्रणाली की व्यवस्था के सम्बन्ध में समुचित प्रावधान किये गये हैं। केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासन हेतु मुख्य पदाधिकारी मन्त्रिगण होते हैं। केन्द्र में मन्त्रिमण्डल का प्रधान, वहां का प्रधानमन्त्री होता है जबकि राज्य मन्त्रिमण्डल का प्रधान सम्बन्धित राज्य का मुख्यमन्त्री होता है। वे विधान मण्डल के प्रसाद पर्यन्त (pleasure of the legisletive) तक ही अपने पदों पर बने रहते हैं। राष्ट्रपति और राज्यपाल केन्द्र तथा राज्यों के सांविधानिक प्रमुख होते हैं। वे अपने-अपने उत्तरदायी मन्त्रि-परिषदों की मन्त्रणा पर कार्य करते हैं।

संविधान के निर्माताओं ने सोच-विचार कर संसदीय शासन प्रणाली को चुना है। भारत के लोग संसदीय शासन प्रणाली से भली-भांति परिचित थे। ऐसी शासन-व्यवस्था की कार्यप्रणाली सरल होती है और इसीलिये भारत के लिये यही प्रणाली अधिक उपयुक्त समझी गई। इस सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था—"संसदीय शासन-प्रणाली में शासन के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन समय-समय पर होता रहता है।"

संसदीय शासन प्रणाली का जन्म एवं विकास इंगलैण्ड में हुआ। वास्तव में इस शासन प्रणाली की रूपरेखा कभी एक निश्चित समय पर नहीं हुई। इंग्लैण्ड में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना के लिये जो प्रयास किये गये उनके परिणाम-स्वरूप ही संसदात्मक शासन प्रणाली अपने वर्तमान रूप में परिणित हो गई। इंग्लैण्ड में प्रचलित शासन प्रणाली के प्रचलित स्वरूप को ही संसदीय शासन प्रणाली का सैद्धान्तिक रूप दे दिया गया और इसी प्रकार इसके गुण दोषों को इस प्रणाली के गुण-दोष मान लिये गये।

राज्याध्यक्ष के रूप में राजा नाममात्र का तथा प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल ही वास्तविक कार्यपालिका का स्वरूप धारण कर सका। कार्यपालिका स्वयं ही व्यवस्थापिका का अंग बन गई और दोनों के मध्य परस्पर सहयोग तथा सद्‌भावना की स्थापना हुई। कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तर-दायी है और अपने पद पर उस समय तक ही रह पाती है जब तक उसे संसद का विश्वास प्राप्त हो। लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के उदय से मन्त्रिमण्डल को संसद को भंग करने का अधिकार मिला और इस प्रकार संसद के निश्चित कार्यकाल का कोई अर्थ नहीं रहा। इस पद्धति के विकास से यह स्पष्ट हुआ कि संसद की सर्वो-च्चता सिद्धान्त रूप में बनी रही किन्तु मन्त्रिमण्डल का प्रभाव, शक्ति व महत्व इतना अधिक हो गया कि इस प्रणाली को मन्त्रिमण्डलीय शासन प्रणाली की संज्ञा भी दी गई। प्रधानमन्त्री का महत्व इतना अधिक हो गया कि वही इस व्यवस्था कर्णधार बन गया और समस्त राजनीति उसके व्यक्तित्व एवं कार्य पद्धति पर निर्भर करने लगी। प्रधानमन्त्री का नेतृत्व इस पद्धति की विशेषता बन गई।

इस प्रणाली में व्यवस्थापिका, जो जन-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है, तथा कार्यपालिका जो व्यावहारिक पक्ष एवं शासन का प्रतिनिधित्व करती है, दोनों के मध्य सामन्जस्य हो जाता है और निर्णय लेने में कठिनाई नहीं होती है और जो निर्णय लिये भी जाते है वह लोकप्रिय हो जाते है। जनता उनका पालन करती है तथा सहयोग देती है। कार्यपालिका के कार्यों का मूल्यांकन भी नित्यप्रति होता है तथा वह सत्ता का दुरुपयोग करने की स्थिति में नहीं रहती है। इसमें एक ही दोष है कि कार्यपालिका का कार्यकाल सदैव अनिश्चित रहता है। कभी-कभी निर्णय निरपेक्ष न होकर समझौते के परिणाम होते है। अतः शासन में दृढ़ता नहीं आती है।

संसदीय शासन प्रणाली में प्रधानमन्त्री का महत्त्व तथा वर्चस्व इतना व्यापक होता है कि उसे संसदीय व्यवस्था का सर्वोपरि आधार माना जाता है, प्रधानमन्त्री को इस व्यवस्था का कर्णधार भी माना जाता है। संसदीय शासन प्रणाली म मन्त्री मण्डल एक टीम के रूप में कार्य करती है। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित रहता है। ससदीय शासन प्रणाली के आलोचकों का यह कहना है कि यह गरीब, अयोग्य तथा मूर्ख लोगों की सरकार है। इस व्यवस्था म अशिक्षित तथा उदासीन नागरिक अपनी उचित भूमिका नहीं निभा सकते। प्रत्येक जगह लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। सत्ता प्राप्ति हेतु लोकतन्त्रीय आदर्शों तथा मूल्यों को ताक म रख दिया जाता है।

4 राष्ट्रपति शासन प्रणाली के गुण दोष

राष्ट्रपति प्रणाली मे एक व्यक्ति अपनी पूरी जिम्मेदारी के साथ शासन चलाता है। उसे विरोधी दलों की आलोचना सहन नहीं करनी पड़ती और अविश्वास का भय भी उसे नहीं रहता। इस प्रणाली म यह सम्भव है कि एक व्यक्ति अधिक कुशलता तथा शीघ्रता से कार्य करे। यह समझा जाता है कि ससदीय व्यवस्था म प्रधान मन्त्री की बहुत सी शक्ति विरोधी दलों को उत्तर देने म और ससद से अपने कार्यों की स्वीकृति प्राप्त करने म लग जाती है अत वह राज्य का काम पूरी तरह से नहीं कर पाता। ससदीय प्रणाली में यदि किसी एक दल को बहुमत प्राप्त नहीं हो तो सरकार में अस्थिरता भी आ सकती है। किन्तु राष्ट्रपति प्रणाली के अपने दोष या खतरे भी हैं। इस प्रणाली म एक व्यक्ति के पास बहुत अधिक अधिकार होते हैं और वह बहुत शक्तिशाली बन जाता है। ऐसी दशा म तानाशाही की तरफ बढ़ने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। भारत के विरोधी दल इसी आशंका के कारण देश में राष्ट्रपति पद्धति की शासन व्यवस्था लागू करने का विरोध करते हैं। किसी एक व्यक्ति को बहुत अधिक अधिकार देना प्रजातन्त्रीय-पद्धति के अनुकूल नहीं है। राष्ट्रपति यदि कोई गलत निर्णय कर दें तो राष्ट्र पर उसका गहरा कुप्रभाव पड़ सकता है क्योंकि सदन और विरोधी दल उसे रोकने म असमर्थ रहेंगे।

अमेरिका के संविधान निर्माताओं ने गणराज्य की स्थापना की थी और राष्ट्रपति को उसका अध्यक्ष मात्र बनाया था। उन्होंने कभी यह कल्पना भी नहीं थी कि राष्ट्रपति का महत्त्व इतना अधिक हो जावेगा कि इस प्रकार की शासन प्रणाली को अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की संज्ञा प्राप्त होगी। वर्तमान म स्थिति यही है कि अमरिका म जो व्यवहार में प्रयुक्त व्यवस्था है वही सिद्धान्त म परिणत हो गये। अमरीकी शासन पद्धति के गुण दोष ही इस पद्धति के गुण दोष मान गये। यह सत्य है कि राष्ट्रपति का कार्यकाल सुनिश्चित है किन्तु वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अपने कार्यकाल की समाप्ति पर यदि वह पुन निर्वाचित होने

का प्रयत्न करे तभी वह जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। इस उत्तरदायित्व का प्रश्न एक निश्चित अवधि के उपरान्त ही उसके सामने आता है। राष्ट्रपति का महत्व इतना अधिक है कि अपने मन्त्रिमण्डल के संयुक्त विरोध के उपरान्त भी वह स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता रखता है। शासन के अन्य सभी पक्ष एवं पद गौण हो जाते हैं। संविधान सीमा में कार्य करते हुए राष्ट्रपति एक प्रकार का वैधानिक एवं निश्चित समय के लिए तानाशाह बन जाता है। व्यवस्थापिका से टक्कर लेने की क्षमता एवं शक्ति उसे प्राप्त है। वह यह भी घोषणा करने की स्थिति में है कि 'न्यायपालिका अपना निर्णय जिस प्रकार चाहे दें, देखें उसे क्रियान्वित कौन करता है।' तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण देश का भविष्य एक व्यक्ति के साथ जुड़ जाता है। उसे अपदस्थ करने का प्रयत्न भी कठिन हो है। ऐसी दशा में जनता तथा उसकी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस का महत्व कम हो जाता है। व्यवस्थापिका भी नेतृत्व विहीन होकर पथ-भ्रष्ट हो जाती है और उसके कार्य-कलाप भी दिशाहीन होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि व्यवस्थापिका निहित स्वार्थों का जमघट मात्र बन जाती है और राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के गौरवशाली संस्था के रूप में उसका अवमूल्यन हो जाता है।

5. भारत में संसदीय शासन प्रणाली पूर्णतया असफल हो गयी है

जब हम अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि क्या हमारे देश में संसदीय प्रणाली असफलता के कगार पर पहुँच गई है? क्या इसमें सुधारने के लिए हमारे द्वारा अपेक्षित प्रयास किए गये हैं? क्या हमने जो प्रयास किये उनमें सफलता की कुछ झलक प्रतिबिम्बित हुई है? इन प्रश्नों का उत्तर हमें स्पष्ट रूप से मिलना चाहिये। तभी हम इस सन्दर्भ में दिशा-निर्देश दे पायेंगे।

यदि इस विषय का गम्भीरता से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि केन्द्र की सरकार को यह शिकायत का अवसर नहीं है कि जनता ने इस प्रणाली के मार्ग में कोई व्यवधान उत्पन्न किया है। अभी तक के निर्वाचनों में एक दल को स्पष्ट बहुमत मिला है। वह स्थिर एवं स्थायी सरकारें दे पायी है। फिर परिणाम यदि मन वांछित नहीं प्राप्त हुए तो दोष किसका? राज्यों में भी जनता ने स्पष्ट बहुमत की सरकारों के पक्ष में मत दिया है। यदि राज्य सरकारें स्थिर न हो पायी तो दोष किसे दें? जनता ने इस व्यवस्था को चलाने में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। असफलता के लिए दोषी जनता को नहीं ठहराया जा सकता है। जनता की स्थिति को देखकर परिणाम यही निकाला जा सकता है कि पद्धति असफल नहीं हुई है। अभी तक राजनीतिज्ञों ने ही संसदीय लोकतन्त्र के मर्म को नहीं समझा है। अतः जब इस दिशा में कोई आवश्यक प्रयास ही नहीं हुए तो सुधार करने की बात करना अथवा उसका मूल्यांकन निरर्थक मात्र है।

6 उपसहार समीक्षात्मक दृष्टिकोण

भारत मे ससदीय लोकतन्त्र उस सीमा तक सफल नही हुआ है जिस सीमा तक होना चाहिये था। इसके अनेक कारण है, जिनमे जातीयता, प्रान्तीयता, गुटबन्दी, दल बदल, क्षेत्रीयता तथा स्वस्थ परम्पराग्रो का ग्रभाव प्रमुख हैं। ऐसी स्थिति मे कोई भी व्यवस्था ग्रसफल हो सकती है। शासन पक्ष के प्रवक्ताग्रो का कथन है कि "दोष पद्धति का नही है ग्रपितु पद्धति के चलाने वालो का है।" यह बात कही भी नही टहरती कि ग्रसफल होकर ग्रात्म पर्यालोचन करना महानता एव बुद्धिमत्ता का परिचायक है। मात्र ग्रावरण का निरीक्षण कर दूसरो पर दोष थोपना उपयुक्त तथा श्रेयस्कर प्रतीत नही होता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि भारत को लोकतन्त्रीय परम्पराग्रो के हित मे ग्रध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की ग्रपेक्षा ससदीय प्रणाली ग्रधिक उपयोगी है। लेकिन इस बात की ग्रपेक्षा की जाती है कि सभी राजनैतिक दल अपने उत्तरदायित्वो को भली भाति हृदयगम करें।

स्वय शासक पक्ष के प्रवक्ताग्रो का कथन है कि दोष पद्धति का नही है ग्रपितु पद्धति के चलाने वालो का है। यह एक कटु सत्य है। ग्रसफल होकर ग्रात्मालोचन करना महानता है ग्रौर मात्र ग्रावरण खोजकर दोष दूसरो पर थोपना ग्रथवा पद्धति को ग्रनुपयुक्त कहना श्रेयस्कर नही है। ग्रमरीका तथा ब्रिटेन मे जहा इन दोनो शासन पद्धतियो ने जन्म लिया ग्रौर विकसित हुई है वहा प्रारम्भ मे कठिनाइया ग्राई। ग्रमेरिका की ग्रखण्डता को भी खतरा उत्पन्न हुग्रा। किन्तु वहा के नेतृत्व ने धैर्य, साहस एव बुद्धि का परिचय दिया ग्रौर ग्रपनी शासन व्यवस्था को राष्ट्र की ग्राकाक्षाग्रो के ग्रनुरूप विकसित कर लिया। ग्राज ग्रावश्यकता इस बात की है कि हम गम्भीरता से विचार करें। लोकतन्त्र की मान्यताग्रो को स्वीकार करे ग्रौर राष्ट्रीय चरित्र को शुद्ध बनाने का प्रयास करे ग्रन्यथा किसी भी प्रकार का लोकतन्त्र ग्रसफल हो जायेगा।

ग्रमेरीका ग्रौर फ्रास के अतिरिक्त जहा कही भी राष्ट्रपति शासन प्रणाली है वह तीव्र केन्द्रीकरण ग्रौर ग्रधिनायकवाद पर ग्राधारित है। तीसरी दुनिया मे तो एक भी उदाहरण ऐसा नही है जो इस ग्रोर ग्राश्वस्त कर सके। पाकिस्तान का उदाहरण बताता है कि राष्ट्र के विभाजन की सम्भावनाग्रो के प्रति भी सावधान रहना जरूरी है। इसलिए ससदीय प्रणाली के प्रति हमारा जो भी ग्रसन्तोष हो हम इस प्रणाली के ग्रन्तर्गत सशोधन तथा सुधार को लाकर इसे ग्रधिक प्रभावकारी एव उपयोगी बनाने का ग्रभियान तीव्र गति से प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

भारतीय नागरिकों के मूल कर्त्तव्य

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक : मूल कर्त्तव्यों की महत्ता
2. संविधान में भारतीय नागरिकों के मूल कर्त्तव्य
3. मूल कर्त्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन
4. मूल कर्त्तव्यों का समीक्षात्मक दृष्टिकोण
5. मूल कर्त्तव्यों का प्रवर्तन
6. उपसंहार।

1 प्रारम्भिक : मूल कर्त्तव्यों की महत्ता

मानव विकास व एक राष्ट्र के सन्तुलित विकास के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता जरूरी है। अतः प्रायः सभी देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है। भारतीय संविधान के भाग तीन का सम्पूर्ण उद्देश्य, राज्य के मनमाने आक्रमण के विरुद्ध उसमें वर्णित अधिकारों की स्वतन्त्रता के लिए, सुरक्षा की व्यवस्था करना है। भारत की संविधान-निर्मात्री सभा ने नागरिकों के मूल अधिकारों को पूर्णतया स्पष्ट रूप से वर्णित किया है। लेकिन न्यायालयों ने इन अधिकारों की इतनी विस्तृत व्याख्या की जिससे शासन की सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में कार्य की गति अवरुद्ध होने लगी। अतः अधिकारों पर कुछ अंकुश लगाना जरूरी हो गया।

अधिकार व कर्त्तव्य परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अतः प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों का उपयोग इस प्रकार से करे कि उस अधिकार से अन्य नागरिकों के अधिकारों का हनन न हो। यहीं कर्त्तव्य-पूर्ति का प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है। अतः शनैः शनैः यह स्वीकार किया गया कि संविधान में मूल कर्त्तव्यों का भी समावेश होना चाहिए।

इस आशय से सन् 1976 में 42 वें संविधान संशोधन द्वारा जहाँ संविधान के अन्य अनुच्छेदों में व्यापक परिवर्तन किए गए वहीं संविधान में नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों को भी परिभाषित किया गया। लेकिन मूल कर्त्तव्यों का भारतीय संविधान में उल्लेख करना कोई नवीन या साहसिक कदम नहीं है। सोवियत संघ के संविधान में सन् 1936 से ही मूल कर्त्तव्य समाविष्ट हैं और प्रत्येक नागरिक को

इन कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक है अन्यथा दण्ड की व्यवस्था है। जापान, इटली, चीन तथा पूर्वी योरोप के अनेक देशों के संविधानों में नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

संविधान के तृतीय भाग में नागरिकों के मूल अधिकारों के सम्बन्ध में विस्तार से उपबन्ध किए गए हैं। संविधान के प्रारम्भ से ही नागरिकों के अपने मूल अधिकारों को प्राप्त करने की दृष्टि से न्यायालयों की शरण लेना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन अपने समाज, राष्ट्र व अन्य नागरिकों के प्रति उनके क्या कर्त्तव्य है अथवा होने चाहिए, इस सन्दर्भ में सामाजिक, आर्थिक मूल्यों का ह्रास स्पष्टत: दृष्टिगोचर होने लगा। परिणाम यह हुआ कि सर्वत्र उच्छृंखलता का वातावरण आच्छादित हो गया। ऐसे परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में 42 वें संशोधन द्वारा संवैधानिक उपबन्धों के माध्यम से नागरिकों को उनके कर्त्तव्यों की ओर सजग किया गया है।

यहाँ विधिशास्त्रियों के उस कथन को प्रस्तुत करना होगा कि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के प्रतिपूरक हैं। अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन किए बिना अधिकारों की माँग अशोभनीय है। हमारे देश का प्राचीन दर्शन तो हमें यहाँ तक स्मरण कराता है कि मनुष्य को समाज से कम से कम ग्रहण कर अधिक से अधिक योग प्रदान करना चाहिए। मूल कर्त्तव्यों को संवैधानिक स्तर प्रदान करने का एकमात्र उद्देश्य नागरिकों को अपने देश व समाज के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने का है ताकि वे उक्त कर्त्तव्यों को अपने जीवन में आत्मसात कर सकें।

2 संविधान में भारतीय नागरिकों के मूल कर्त्तव्य

संविधान (बयालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 51-क जोडकर भारतीय नागरिकों के लिए निम्नलिखित दस मूल कर्त्तव्य अधिरोपित किए गए हैं—

1 भारत के संविधान का निष्ठापूर्वक पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रीय झण्डे एवं राष्ट्रीय गान का सम्मान करें।

2. उन आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखें व माने जिन्होंने हमारे देश की स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरित किया था।

3 भारत की सम्प्रभुता, एकता व अखण्डता का समर्थन करें व उसकी रक्षा करें।

4. राष्ट्र की प्रतिरक्षा करें तथा जब उसे कहा जाय तब राष्ट्र की सेवा के लिए तत्पर रहे।

5 धर्मों, भाषाओं तथा क्षेत्रीय अथवा वर्गीय विभिन्नताओं से ऊपर उठकर भारत की समस्त जनता में समरसता (harmony) व सामान्य बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहन प्रदान करे और ऐसे आचरण का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के प्रतिकूल हो।

6. इस देश की सम्मिलित संस्कृति का जो उसे विरासत में प्राप्त हुई है, सम्मान करें तथा उसे नष्ट होने से बचाए,
7. वनों, झीलों, नदियों व वन्य जीवों समेत प्राकृतिक वातावरण की रक्षा करे व उनका संवर्धन करें और समस्त जीवों पर दया करें,
8. वैज्ञानिक-मनोदशा, मानवता व जिज्ञासा तथा सुधार की इच्छा का विकास करे,
9. सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करें, और हिंसा को अनुरोध के साथ त्यागे,
10. वैयक्तिक व सामूहिक कार्यों के हर क्षेत्र में श्रेष्ठता की ओर प्रयास करें जिससे राष्ट्र प्रयत्न व उपलब्धि के उच्च स्तर की ओर सदैव बढ़ता रहे

3. मूल कर्त्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन—

विश्व के अन्य संविधानों पर जब हम नजर डालते हैं तो हम यह पाते हैं कि मूल कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट उपबन्ध संवैधानिक प्रलेखों में समाविष्ट नहीं किए गए हैं, तथापि ब्रिटेन, कनाडा व आस्ट्रेलिया में वहां की सामान्य विधि व न्यायिक अभिनिर्णयों द्वारा नागरिकों के कर्त्तव्य स्पष्ट किए गए है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय अथवा प्रान्तों के संविधान में केवल नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है, कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में वहां का संविधान मौन धारण किए हुए है। इसके विपरीत, जापान के संविधान में नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों का जिक्र किया गया है। समाजवादी देशों के संविधानों में विशेषतया नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में समुचित उपबन्ध किए गए है। सोवियत रूस के राष्ट्रीय संविधान के दसवें अध्याय में नागरिकों के कर्त्तव्य विस्तार से उपबन्धित किए गए हैं। सोवियत संविधान के अनुच्छेद 130 से 132 तक में नागरिकों के निम्न कर्त्तव्य निर्देशित किए गए हैं—

1. सोवियत समाजवादी गणतंत्र के संविधान तथा उसकी सामान्य विधि की अनुपालना करना, श्रम-अनुशासन को बनाए रखना, लोक कर्त्तव्यों का ईमानदारी से निर्वहन करना एवं समाजवादी समुदाय के आदर्शों व नियमों का सम्मान करना।
2. सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा करना, सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रति अपराध करने वाला वहां की सामान्य जनता का शत्रु माना जाता है।
3. प्रतिरक्षा-सेवाओं में भर्ती होना वहां के संविधान के अनुसार नागरिकों का परम कर्त्तव्य माना जाता है।

समाजवादी देशों के संविधानों की एक अनूठी एवं अनुसरणीय विशेषता यह है कि कर्त्तव्य के साथ-साथ नागरिकों को कार्य करने का मूल अधिकार प्रदान किया गया है। रोजगार या काम न मिलने की स्थिति में वहां के नागरिक अपने इस अधिकार को न्यायालयों के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं। हमारे संविधान में

अनुच्छेद 41 के अधीन केवल राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह नागरिकों को अधिकार स्वरूप काम प्रदान करें। लेकिन इसका तब तक कोई विधिक औचित्य नहीं है जब तक कि इस मूल अधिकारों के अध्याय म नहीं जोड दिया जाता।

4 मूल कर्तव्यों का समीक्षात्मक दृष्टिकोण

भारत मे मूल कर्तव्यो का समावेश परिस्थितियों की विवशता के कारण किया गया है। साथ ही, इसमे अनुकरण की प्रवृत्ति का भी आभास मिलता है। सोवियत सघ मे मूल कर्त्तव्यो का पालन करना सम्भव है क्योंकि वहाँ का कानून, कर्तव्य पालन करवाने मे सक्षम है। साम्यवादी दल भी इनकी स्पष्ट व्याख्या करने मे समर्थ है तथा कर्तव्य पालन न करने पर स्पष्ट रूप से दण्ड की व्यवस्था भी परिलक्षित है। लेकिन भारत म, मूल कर्त्तव्य का समावेश कर लिया गया किन्तु उनके पालन करने के लिए कानून का समुचित निर्माण नही किया गया। दण्ड की भी कोई उचित व्यवस्था नही है। यद्यपि ससद को दण्ड निर्धारित करने का अधिकार है तथापि स्पष्ट निर्देश के अभाव मे मूल कर्त्तव्यो का सविधान म उल्लेख करने मात्र से समस्या हल नही होती। विभिन्न विधिशास्त्रियो द्वारा विधि-अनुपालना के बल पर दिया गया है जिसके अभाव म विधिपालना सभव नही है। यही स्थिति सविधान म समाविष्ट मूल कर्त्तव्यो की है। तदन्तर कुछ मूल कर्तव्यों की भाषा भी अस्पष्ट है और शका निवारण की कोई समुचित व्यवस्था नही है। उदाहरणार्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास, समन्वित सस्कृति की गौरवशाली परम्परा, उत्कर्ष की ओर बढने का सतत् प्रयास, समरसता आदि ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या अनेक दृष्टिकोणो से विविध प्रकार से की जा सकती है। अत अस्पष्ट भाषा का सविधान मे प्रयोग किसी प्रकार से सराहनीय नही कहा जा सकता।

मानववाद, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, उत्कर्ष की ओर निरन्तर बढने रहना आदि, कह देना तो अत्यन्त सरल है, लेकिन इसके अनुसार नागरिक से आचरण करना और इन्हें हृदयगम करना कठिन कार्य है। इसका कोई प्रत्यक्ष मापदण्ड भी नही है। ऐसी दशा मे नागरिक इन कर्त्तव्यो का पालन किस प्रकार करेगें यह विवादास्पद हैं। अत यह स्पष्ट है कि इन्हे सिद्धान्त स्वीकार किया गया है लेकिन उसके व्यवहारिक रूप को नजरअन्दाज किया गया है।

अन्त मे, इन अस्पष्ट शब्दो को कोई शासक वर्ग इच्छानुसार व्याख्या कर नागरिक अधिकारो का अपहरण करने मे सर्वथा सक्षम हो सकता है। उनकी तानाशाही को रोकने का कोई उपाय नही है। भारत मे जहा अधिकाश जनता अशिक्षित है तथा सविधान का अर्थ भी नही समझती ऐसे देश मे इस प्रकार की व्यवस्था करना उचित प्रतीत नही होती।

5. मूल कर्त्तव्यों का प्रवर्तन :

42 वें संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में उपर्युक्त जिन दस मूल कर्त्तव्यों का समावेश किया गया है, उनके प्रवर्तन के सम्बन्ध में कोई उपबन्ध नहीं किए गए हैं। इसके अभाव में, मूल कर्तव्य केवल धर्मग्रन्थों में वर्णित उपदेश मात्र ही रखे रहेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि इनके क्रियान्वयन के लिए कोई विधिक तंत्र गठित किया जाना चाहिए ताकि मूल कर्त्तव्यों के स्वरूप में कोई वास्तविक निखार आ सकें।

6 उपसंहार :

उपरोक्त वर्णित कारणों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मूल कर्त्तव्य अस्पष्ट है तथा इनको न्यायालय द्वारा अनुपालित नहीं कराया जा सकता। इनका दुरुपयोग होने की भी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन इसके उपरान्त भी यह एक अच्छी शुरूआत है क्योंकि हमारे देश में पहली बार अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों की ओर भी ध्यान दिया गया है। भारत में यदि यह कहा जाये कि यह सही दशा में सही कदम है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आवश्यकता बस अब सिर्फ इस बात की है कि इन कर्त्तव्यों की समुचित व्याख्या की जाए तथा न्यायालयों के उचित निर्णयों द्वारा इनकी अनुपालना की व्यवस्था की जाय। कमियाँ समयानुसार स्वयं दूर होती जायेंगी। नागरिकों में जागरूकता उत्पन्न करने से बाधायें दूर होंगी तथा शासक द्वारा इनके दुरुपयोग पर रोक लग सकेगी। इस प्रकार शासक, प्रजा व संविधान के बीच सन्तुलन स्थापित किया जा सकेगा, जिसकी वर्तमान परिस्थितियों में अत्यधिक आवश्यकता है।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक
2. गुट निरपेक्षता की अवधारणा
3 गुट निरपेक्ष आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
4 निर्गुट आन्दोलन के विभिन्न सम्मेलन
5. वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे गुट निरपेक्ष आन्दोलन का महत्व
6. उपसहार ।

1. प्रारम्भिक ·

पचशील के सिद्धात पर अपनी विदेश निति को आधारित करने वाले राष्ट्र भारत ने सर्वप्रथम विश्व म गुटनिरपेक्षता की नीति को व्यावहारिक रूप प्रदान किया । भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री प नेहरू ने अपने इन शब्दो के आधार पर अपनी नीति को आधारित किया कि ' यदि हम अपने आप को किसी एक गुट के साथ जोड लेते है तो एक प्रकार से शायद यह अच्छा कदम सिद्ध होगा, लेकिन न केवल हमे वरन् समस्त विश्व को लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी । इससे हम संसार म अपने प्रभाव का प्रयोग नही कर सकेंगे ।'' विश्व के राष्ट्रो की वर्तमान प्रवृत्ति यह है कि जो भी राष्ट्र अपनी सदियो से खोयी हुई स्वतन्त्रा को पुन प्राप्त करता है तथा एक स्वतन्त्र एव सम्पन्न राष्ट्र के रूप मे उदित होता है गुटनिरपेक्षता की नीति को ही प्राथमिकता देता है । वह सैनिक गुटो मे अपने आपको पुन प्रतिबन्धित करने के स्थान पर निर्गुटता की नीति को अपनाकर अपना स्वतन्त्र एव अप्रतिबन्धित विकास करना अधिक उपयुक्त समझता है । इस आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य जहा राष्ट्रो मे अपनी आन्तरिक अनियमितताओ और बिखरी हुई एकता को एकत्रित कर तीसरी दुनिया के एकमात्र प्रतिनिधि के दावे की औचित्यता को सिद्ध करना है वही दूसरी ओर विश्वव्यापी आर्थिक विषमता और तनाव को दूर कर अपने हितो के लिए कार्य भी करना है ।

2. गुट निरपेक्षता की अवधारणा

गुटनिरपेक्षता का सबसे सरल अर्थ है राष्ट्र द्वारा किसी विशेष गुट का समर्थन न कर अपनी स्वतन्त्र नीति का पालन करना है । विश्व मे वर्तमान मे दो प्रमुख

गुट प्रभावी थे . एक पूंजीवादी गुट जिसका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में है तथा द्वितीय साम्यवादी गुट जिसका अगुहा साम्यवादी रूस है । जो राष्ट्र इन दोनो गुटों से अपने को पृथक रखने की नीति का अनुसरण करता है वह राष्ट्र गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करता हुआ माना जायेगा । इस प्रकार गुट निरपेक्षता का तात्पर्य है अपनी स्वतन्त्र रीति नीति है । गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण करने वाला राष्ट्र किसी भी गुट या शक्ति का समर्थन न कर उसकी सही नीतियों का समर्थन करता है तथा अनुचित नीतियों का विरोध प्रकट करता है । जार्ज-लिस्का के शब्दो मे "असलग्नता या गुट निरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत मे भेद कर सदैव सही नीति का समर्थन करना ।" गुट निरपेक्षता का सिद्धान्त एक सक्रिय सिद्धान्त है जिसका स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी मे सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बधना, हर प्रकार की आक्रामक सन्धि से दूर रहना तथा राष्ट्र हित को प्राथमिकता देते हुए अपनी विशिष्ट नीति का संचालन करना । लेकिन इस सिद्धांत का तात्पर्य किसी भी प्रकार की सैनिक कार्यवाही का वर्णन नही है । इस सम्बन्ध मे पं. जवाहरलाल नेहरू के ये शब्द सजीवता रखते है कि जहा स्वतन्त्रता पर आच आये, न्याय को ललकारा जा रहा हो अथवा आक्रमण हुआ हो वहां न तो हम तटस्थ रह सकते और न ही तटस्थ रहेगे ।

गुटनिरपेक्षता तटस्था नहीं है

गुटनिरपेक्षता तटस्था नही है । ये दोनो शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं है । गुट निरपेक्षता को तटस्थता मे विभूषित करना गुटनिरपेक्ष शब्द का गलत अर्थ लगाने के समान होगा । तटस्थता शब्द नकारात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है जबकि गुट निरपेक्षता का विचार सक्रिय, सकारात्मक, और निश्चित है । गुटनिरपेक्षता की नीति अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित नही करती बल्कि उचित पक्ष का समर्थन करने मे तत्पर रहती है जबकि तटस्थता की नीति हमें दो गुटों के विवाद मे पृथक रह कर निष्क्रियता की नीति का अनुसरण करने का पाठ पढ़ाती है । गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रणेता पं. जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है कि "मै 'तटस्थ' शब्द का प्रयोग नही करता क्योकि उसका प्रयोग सामान्य रूप से युद्धकाल मे होता है । शान्तिकाल मे भी इससे एक प्रकार के युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है।" जार्ज लिस्का ने दोनों मे व्याप्त अन्तर भी दिखाते हुए लिखा है कि—"किसी विवाद के सन्दर्भ मे यह जानते हुए कि कौन सही है और गलत है किसी का भी पक्ष न लेना तटस्थता है लेकिन सही नीति का समर्थन, बिना किसी गुट का पक्ष लिए, करना गुटनिरपेक्षता है ।

2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज से करीब 23 वर्ष पूर्व यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड मे गुट-

निरपेक्ष आन्दोलन का सर्वप्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ था। हकीकत मे इस आन्दोलन की कहानी का प्रारम्भ सन् 1955 को कोलम्बो ग्रुप द्वारा आयोजित एफ्रो-एशियाई राष्ट्रो के बाण्डुग सम्मेलन से होता है। इस सम्मेलन में इस आन्दोलन का शुभारम्भ करने वाले तीसरी दुनिया के तीन दिग्गज नेहरू, नासिर और टीटो थे जिन्होने आन्तरिक विचार विमर्श के पश्चात् सन् 1956 मे एक ममविदे पर हस्ताक्षर किये थे, जिसमे इस आन्दोलन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया था। इस समय भारत, मिश्र तथा युगोस्लाविया सुरक्षा परिषद् के सदस्य थे और उन पर दोनो मे महाशक्तियो ने अपने समर्थन के लिए दबाव डालने प्रारम्भ किये। तीसरी दुनिया के कई देश इस स्थिति मे किसी शक्तिशाली गुट का समर्थन करने का रुख अपनाने लगे। इस समय एक ऐसे मच की आवश्यकता अनुभव हुई जो उन राष्ट्रो को एक साथ मिल बैठकर अपनी समस्याओं को सुलझाने म उसकी मदद करने मे सहयोगी हो सके। इस ऐतिहासिक आवश्यकता को कार्यरूप मे परिणित करने की पेशकश इस आन्दोलन के जन्म का कारण बनी।

यदि हम निर्गुट भावना की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की तरफ नजर डाले तो हम पायगें कि भारत पाचवे दशक से ही इस बात का इच्छुक था कि एशियाई-अफ्रीकी देशों को एक मच पर लाया जाये। भारत की इस भावना का आभास हमे प. नेहरू के उस रेडियो प्रसरण से होता है जो उन्होने 1946 मे आतरिक सरकार के अध्यक्ष की हैसियत से प्रसारित किया था। उन्होने कहा था कि—हम चाहते है कि एक दूसरे के खिलाफ गुटबाजी स हम यथा सम्भव अलग रहें। इसी प्रकार प नेहरू ने एक बार कहा था कि– हम सभी राष्ट्रो से मैत्री भाव चाहते हैं। निर्गुट होने का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की उपेक्षा नहीं है—इसका तात्पर्य है स्वतन्त्र विदेश नीति।

इस आन्दोलन का प्रथम शिखर सम्मेलन 1961 मे यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड मे हुआ था तथा तब से अब तक इस आन्दोलन ने निरन्तर प्रगति की है। अब तक इस आन्दोलन के सात शिखर सम्मेलन तथा अनेक मत्री या अधिकारी स्तर के सम्मेलन हुए है। प्रथम शिखर सम्मेलन में मात्र 25 देशो ने भाग लिया था लेकिन वर्तमान म इस आन्दोलन के सदस्य देशो की सख्या मार्च 1983 मे आयोजित दिल्ली सम्मेलन के आधार पर 101 हो गई है जो कि इस आन्दोलन के सफल विकास के इतिहास का वर्णन करती है। इस प्रथम शिखर सम्मेलन ने तीसरी दुनिया के राष्ट्रो को एक मच तो प्रदान किया लेकिन राष्ट्रों के विचार वैभिन्य के कारण फिर भी वे किसी सैनिक खेमे से सम्बन्ध जोडे हुए थे।

काहिरा के 1964 में दूसरे शिखर सम्मेलन तक प. नेहरू का देहान्त हो चुका था तथा लालबहादुर शास्त्री प्रधानमत्री बन चुके थे। इस वक्त भारत पर चिनी आक्रमण के समय निर्गुट देशो ने उदासीनता का परिचय दिया। यह स्थिति

इस आन्दोलन के लिए अहितकर रही। सदस्य देशों ने इस रवैये के कारण भारत ने 1864 से 1970 तक आन्दोलन के प्रति निष्क्रीयता का भाव रखा। इसी दौरान अफ्रीका, लेटिन अमेरिका और कैरेबियन सागर के देशों ने इस मंच के प्रति कुछ दिलचस्पी का भाव प्रदर्शित किया। फलस्वरूप सितम्बर 1970 में इस आन्दोलन का तीसरा शिखर सम्मेलन लुसाका में आयोजित किया गया जिसमें 60 राष्ट्रों ने भाग लिया। इसके पश्चात चार शिखर सम्मेलन लगातार आयोजित किए गये हैं। चौथा शिखर सम्मेलन 1973 में अल्जियर्स में, पांचवा 1976 में कोलम्बो में तथा छठा 1979 में हवाना में आयोजित किया गया। सातवा निर्गुट शिखर सम्मेलन 1982 में इराक की राजधानी बगदाद में आयोजित होना था लेकिन इराक-ईरान युद्ध की वजह से इसका आयोजन मार्च 1983 में दिल्ली में किया गया जिसमें 101 सदस्यों ने भाग लिया।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन को अपने जन्म के क्षण से ही विरोध का सामना करना पड़ा था। पूंजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही क्षेत्रों ने इस आन्दोलन को शंका कि दृष्टि से देखा था। चीन के माओत्से तुंग जैसे समाजवादी नेता भी यह महसूस करते थे कि प्रत्येक राष्ट्र को किसी न किसी एक गुट की ओर मामुख होना ही होगा। इसके लिए कोई तीसरा रास्ता नहीं है। अमेरिका के जॉन फास्टर डलेस इस आन्दोलन को अनैतिक तक कहने में नही हिचके है। वर्तमान में सोवियत संघ ने परिस्थिति का जायजा कर इस आन्दोलन का समर्थन किया है। सोवियत संघ ने महसूस किया है गुट निरपेक्ष आन्दोलन तथा उसकी नीतियों एवं सिद्धान्तों में कुछ साम्य है। लेकिन अमेरिका अभी भी इस आन्दोलन को शक की निगाहो से देखता है। इसकी स्पष्ट झलक हमें संयुक्त राष्ट्र संघ के 38 वे अधिवेशन में मिलती है। इस अधिवेशन में अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रीगन इस तरह बरसे कि उनके आन्तरिक उद्गारों की झलक महज ही सामने आ जाती है। समय बीतने के साथ गुट निरपेक्षता का औचित्य अधिकाधिक स्पष्ट होता गया और इस आन्दोलन ने उपनिवेशवाद, नस्लवाद और साम्राज्यवाद के प्रतिरोध तक ही अपने को सीमित नहीं रखा बल्कि उसे निःशस्त्रीकरण उपनिवेशवाद तथा अविकसित देशों पर विकसित देशों के आर्थिक वर्चस्व तक फैला दिया।

4 निर्गुट आन्दोलन के विभिन्न सम्मेलन :

अपने जन्म के समय से ही इस आन्दोलन के विभिन्न शिखर सम्मेलन एवं अनेक मन्त्री एवं अधिकारी स्तर के सम्मेलन हुए है। इन सम्मेलनों की वजह से इस आन्दोलन की ख्याति ने निरन्तर बढ़ोत्तरी हुई है। इन सम्मेलनों में सदस्यों राष्ट्रों के प्रतिनिधि अपने-अपने विचारों को अभिव्यक्त करते है जिससे तीसरी दुनिया के देशों की बहुत सी समस्याओं पर दृष्टिपात होता है तथा समस्या निराकरण का उपाय खोजा जाता है। इन सम्मेलनों के कारण देशों में पारस्परिक आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सहयोग एवं सद्भाव में वृद्धि होती है।

(क) प्रथम शिखर सम्मेलन

निर्गुट राष्ट्रों का प्रथम शिखर सम्मेलन सितम्बर 1961 में यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में 25 सदस्य राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में उन्हीं राष्ट्रों को आमन्त्रित किया गया था जिन्होंने शीत युद्ध के परिणामस्वरूप निर्मित सैनिक संधि से अपने को पृथक रखे हुए हो, किसी भी महाशक्ति को अपने यहाँ सैनिक कार्यवाही करने की अनुमति न दे रखी हो, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर आधारित विदेश नीति का अनुसरण कर रहे हो तथा वे राष्ट्र भी जो राष्ट्रीय मुक्ति संगठनों को सहयोग प्रदान कर रहे हो। सम्मेलन में महाशक्तियों से अनुरोध किया गया कि वे शीत युद्ध की उग्रता पर नियन्त्रण स्थापित करें, निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रयास करें, तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल शान्तिपूर्ण तरीकों से निकालने का प्रयास करें। विश्व शान्ति की तरह अग्रसर होने की दिशा में समस्त राष्ट्रों को आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक पिछड़ेपन से मुक्ति दिलाने की बात पर इस आन्दोलन ने विशेष जोर दिया। लेकिन प्रारम्भ से इस आन्दोलन ने स्वय को अन्तराष्ट्रीय राजनीति में एक तीसरे गुट के रूप में उभरने की सम्भावना से इन्कार किया।

(ख) द्वितीय शिखर सम्मेलन

सन् 1964 के अक्टूबर माह में काहिरा में इस मंच के सदस्य राष्ट्र पुन एकत्रित हुए जिसमें 47 राष्ट्रों ने भाग लिया। भारत के तात्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने अणु निःशस्त्रीकरण, सीमा विवादों का शान्तिपूर्ण हल, विदेश प्रभुत्व आदि से मुक्ति आर्थिक विकास एव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि प्रश्नों से सम्बन्धित पाच सूत्री प्रस्ताव मंच के समक्ष रखा। इस शिखर सम्मेलन में कुछ मतभेद भी उभर कर सामने आये। केनिया, श्रीलंका, नाइजीरिया तथा भारत जैसे राष्ट्रों ने जो बीच का मार्ग स्वीकार करने के इच्छुक थे, शीत युद्ध एव उसके दुष्परिणामों को महत्व दिया, जबकि कुछ उग्रवादी विचारधारा वाले राष्ट्रों ने जैसे मिश्र, घाना, गुयाना, क्यूबा आदि राष्ट्रों ने उपनिवेशवाद और आर्थिक समस्याओं पर अधिक जोर देकर आन्दोलन की एकमतता की विचारधारा में विघ्न पैदा कर दिया।

(ग) तृतीय शिखर सम्मेलन

तीसरा शिखर सम्मेलन सितम्बर 1970 में लुसाका में किया गया। इसमें 54 राष्ट्रों ने भाग लिया। सम्मेलन में मुख्यत पुराने उपनिवेशवाद तथा नव उपनिवेशवाद, निर्गुट दलों का स्थाई संगठन बनाने आदि पर विचार किया गया। सम्मेलन ने इसका संगठन बनाने तथा किसी स्थाई कार्यालय की स्थापना की माग को नामंजूर किया। भारत ने इस संगठन के बनाने का कड़ा विरोध किया।

(घ) चतुर्थ सम्मेलन

इस सम्मेलन तक आते-आते अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ चुका था। शीत युद्ध की वैमनस्यता के स्थान पर अब तनाव शैथिल्य का वर्चस्व था यह सम्मेलन 1973 में अल्जियर्स मे हुआ था। इसमे 76 देशों ने भाग लिया। उस बदले हुए वातावरण मे क्यूबाई राष्ट्राध्यक्ष फिडेलकास्ट्रो की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

(ङ) पंचम शिखर सम्मेलन

यह सम्मेलन श्रीलका की राजधानी कोलम्बो मे 1976 म हुआ था। सम्मेलन मे कई घोषणा-पत्र जारी किये गये। इस सम्मेलन मे भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओ को वरीयता प्रदान की गई।

(च) छठा शिखर सम्मेलन

इस मच की छठी बैठक हवाना म 1979 मे हुई। इस सम्मलन की वड़ी उपलब्धि थी। नि-शस्त्रिकरण पर गुट निरपेक्ष देशो द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना का विचार। इस सम्मेलन मे भी उपनिवेशवाद, नव उपनिवेशवाद, रगभेद नीति आदि की कड़ी आलोचना की गई। इस सम्मेलन में कम्पूचिका और मिश्र के मामलो पर काफी वाद-विवाद हुआ। इस सम्मेलन मे ही बगदाद को सातवें शिखर सम्मेलन के लिए आयोजन स्थल के रूप में चुना गया। लेकिन इराक-ईरान युद्ध की वजह से यह सम्मेलन वहाँ न होकर दिल्ली में आयोजित किया गया।

(छ) सातवां शिखर सम्मेलन

मार्च 1983 मे सातवा शिखर सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में अफगानिस्तान व कम्पूचिया की समस्या, पश्चिमी सहारा का प्रश्न, ईराक-ईरान युद्ध का प्रश्न, हिन्द महासागर का सैन्यकरण, नामीबिया प्रश्न आदि मामलो पर विचार-विमर्श किये जाने के लिए मसविदे तैयार किये गये। इस मसविदे मे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से सुधार के अल्पकालीन एव दीर्घकालीन प्रयासो की आवश्यकता पर बल दिया गया। ऐसी आर्थिक समस्याओ मे सर्वप्रमुख विकसित राष्ट्रो द्वारा विकासशील का आर्थिक शोषण के रूप मे नव साम्राज्यवाद की चुनौती है।

सातवे शिखर सम्मेलन के मसविदे मे सम्मिलित सभी समस्याओ का समाधान शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक है। परन्तु अत्यन्त दुःख की वात है कि सम्मेलन का अमूल्य समय व शक्ति का व्यय राजनीतिक मसलो के घिसेपिटे बयानो से नष्ट कर दिया जाता है। सभी योगदान कारी राष्ट्र इन मचों के माध्यम से अपने विचारों एव नीतियो का प्रचार अधिक करते हैं न कि समस्या के समाधान का प्रयत्न। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि सम्मेलन मे सम्मिलित समस्याओ को सुलझाने में सभी सदस्य राष्ट्र एक जुट होकर सहयोग करें।

5. वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे गुट निरपेक्ष आन्दोलन का महत्व

गुट निरपेक्ष राष्ट्रो की बढती हुई संख्या एव सयुक्त राष्ट्र सघ मे आन्दोलन की ध्वनि इस बात का प्रतीक है कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढती जा रही है। महाशक्तियो के बीच मे सन्तुलनकारी शक्ति रूप मे, सह-अस्तित्व, शस्त्रीकरण की नीति, को हतोत्साहित करने, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोध मे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सभी सदस्यो ने अपनी आवाज उठायी है। यह सर्व विदित हैं कि गुट निरपेक्ष आन्दोलन को राजनीतिक क्षेत्र की अपेक्षा आर्थिक क्षेत्र मे अधिक सफलता मिली है। इस दृष्टि से आर्थिक व्यवस्था में इस आन्दोलन का अपना एक स्वतत्र अस्तित्व है।

सक्षेप मे इसका महत्व इस दृष्टि से भी आंका जा सकता है कि जितना तृतीय विश्व युद्ध को टालने का श्रेय सयुक्त राष्ट्र सघ का है। उतना ही श्रेय गुट निरपेक्ष आन्दोलन को भी है।

6. उपसहार—गुटनिरपेक्षता, विश्व मे शाति समृद्धि तथा विश्व को परमाणु विध्वश से बचाने का एक मात्र विचारशील उपाय है। अब यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य राष्ट्रो की प्रतिपेक्षा पर निर्भर करता है कि वह इस सम्बन्ध मे प्रयास करे।

सयुक्त राष्ट्र महासभा के 38 वे अधिवेशन मे अमेरिकी राष्ट्रपति श्री रोनाल्ड रीगन द्वारा की गई आलोचना पर टिप्पणी करते हुए गुट निरपेक्ष आन्दोलन की अध्यक्षा श्रीमती इन्दिरागाधी ने कहा कि ससार को हथियारो से मुक्त कराने के सघर्षशील प्रर्याप्त मे विकाशसील एवम् समाजवादी देश एक जुट हो। उन्होने सामूहिक और पूर्ण-निशस्त्रीकरण के लिए सघर्ष को सर्वोपरि ध्येय बताया।

दहेज का अभिशाप : समस्या एवं समाधान

सामान्य अवलोकन

1. प्रारम्भिक : दहेज अभिप्राय
2. दहेज प्रथा का प्रारम्भ एवं प्राचीन स्वरूप
3. सामाजिक जीवन पर दहेज प्रथा का कुप्रभाव
4. दहेज का वर्तमान व्यापक स्वरूप तथा उसके विभिन्न कारणों का सर्वेक्षण
5. दहेज-प्रथा पर विधिक नियन्त्रण
6. दहेज-निवारण में युवा-वर्ग की भूमिका
7. दहेज समस्या का समाधान
8. उपसंहार।

1. प्रारम्भिक :

श्रम से जर्जरित बाप का शरीर भाई के मस्तक पर भविष्य की चिंता की सलवटें तथा रसोई के एक कोने मे सिमकती हुई माता की वेदना से व्यथित होकर न जाने कितनी कन्याएँ आत्महनन तथा वेश्यावृत्ति जैसे कुमार्ग की पथिक बन जाती है।"

समाचार-पत्रों मे दहेज की अग्नि से होम होने वाली नव-वधुओं के समाचार आये दिन प्रकाशित होते रहते है। कोई दिन भी ऐसा नही जाता है जब रसोई घर में किसी युवा-पत्नी के झुलस जाने का समाचार या किसी नववधु पर ससुराल वालों के अत्याचारों के समाचार पढ़ने को न मिलते हों। पिछले दिनों ऐसी घटनाओं मे तीव्र वृद्धि हुई है और सभी जागरुक व्यक्तियों का ध्यान दहेज के अभिशाप की ओर आकर्षित हुआ है। सामाजिक संस्थाओं ने दहेज की कुप्रथा पर प्रतिबन्ध के लिए नियम बनाये है, सरकार ने कानून बनाकर दहेज लेने को अपराध घोषित किया है किन्तु इस तरह के प्रयत्नो का कोई आशातीत परिणाम अभी तक हमारे सामने नही आया है। दहेज प्रथा का स्वरूप दिन-प्रतिदिन विकराल होता जा रहा है और दहेज के शिकार होने वाली युवतियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

वधु-पक्ष की ओर से वर-पक्ष को नकद या विभिन्न मूल्यवान वस्तुओं के रूप मे भेंट या दान को 'दहेज' कहते हैं। भारतीय प्रथा यह है कि शादियो में शादी तय होते समय जो पैसा तय कर लिया जाता है, वह वधु पक्ष वाले नकद या वस्तुओं के रूप मे वर-पक्ष को देते हैं। वस्तुएँ छोटी या बडी जैसे टेलीविजन, रेफ्रिजेरटर, कपडे, गहने, स्कूटर, कार आदि हो सकते हैं। यह दहेज की राशि लडके की आय व सुन्दरता के स्तर और परिवार के स्तर के अनुसार भिन्न हो सकती है। कोई डॉक्टर, इन्जीनियर, चार्टेड अकाउन्टेन्ट, प्रशासनिक अधिकारी अन्य की तुलना मे ज्यादा दहेज पाता है। कम दहेज लाने के कारण वधुओं के साथ दुर्व्यव्यवहार काफी वर्षो से किया जा रहा है। यही नही आजकल तो इस दुर्व्यवहार की सीमा इतनी बढ़

गयी है कि बधुओ को जला तक दिया जाता है। अर्थात् एक घर म चन्द दहेज के सामान हेतु नयी नवेनियो की हत्या कर दी जाती है। इतनी व्यापक चर्चा होने के पश्चात् भी कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही उठाया जा रहा है।

2 दहेज प्रथा का प्रारम्भ एव प्राचीन स्वरूप

दहेज प्रथा अपन मूल रूप मे तो स्वेच्छानुसार अपनी पुत्री को पिता द्वारा दी गई भेट आदि स्थिति म आरम्भ हुई। यह प्रथा कालिदास के समय म भी थी ऐसा लेख भगवत शरण उपाध्याय द्वारा लिखित कालिदास का भारत नामक ग्रन्थ से उद्धृत है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी श्री रामचन्द्रजी के विवाह वर्णन के अन्तर्गत लिखा है—

'भूपति बोलि बराती लीन्है । जान बसन मनि भूषन दीन्है ॥
ग्रादर दान प्रेम परिपोषे । देत असीस चले मन तोषे ॥"

ग्रादर व दान प्रारम्भिक रूप मे इच्छा व श्रद्धा के रूप मे ही किया जाता था।

प्राचीन समय मे धनपति और राजा-महाराजा अपनी पुत्री को सोना चादी, रत्न इत्यादि धन्य धान्य से सुसज्जित कर एव कन्यादान म मकान, जायदाद, ग्राम दान का दान करके विदा करते थे। दहेज का इतना बोल-बाला था। वे लोग अपने दास-दासियो को भी लडकी के दहेज के रूप म दे दिया करते थे। माता-पिता अपने को कन्या ऋण से उऋण मानकर चलते थे और अपनी पुत्री को पतिगृह मे सुखी देखने की कल्पना को साकार देखना चाहते थे।

दहेज की प्रथा भारतीय दार्शनिक एव सामाजिक जीवन के अनुकूल नही है। प्राचीन वैदिक साहित्य से मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय आर्य नारी स्वेच्छा से अपने पति का चुनाव करती थी। उस समय मे समाज मे स्त्री का स्थान अधिक महत्वपूर्ण था। कालान्तर मे सामाजिक व्यवस्था मे स्त्री का स्थान नीचा होता गया। स्त्री का स्थान नीचा होने के साथ ही दहेज की प्रथा का विकास हुआ। आधुनिककाल मे जब पूजीवाद का प्रभाव तेजी से बढ रहा है तो दहेज की प्रथा भी बहुत उग्र होती जा रही है। पूजी प्रधान समाज मे हर वस्तु व्यापारिक लन देन मे बदल जाती है। विवाह जो कभी दो आत्माओ का मिलन या हृदयो का मिलन माना जाता था, वर्तमान मे विवाह एक व्यापारिक लेन देन बन गया है। दहेज के लोभी निर्लज होकर अपने पुत्र का मूल्य ठहराते हैं और अधिक से अधिक दहेज लेने की कोशिश करते है। पुत्री क पिता को विवश होकर दुखी मन से लोभी की हर माग पूरी करनी पडती है।

3. सामाजिक जीवन पर दहेज प्रथा का कुप्रभाव

दहेज की प्रथा सामाजिक जीवन पर कैसे बुरा प्रभाव हो रहा है, यह कोई कहने की बात नही है। दहेज के कारण नारी जाति की दशा बहुत दयनीय हो गई है। लडकी का किसी परिवार मे जन्म लना ही एक अभिशाप माना जाने लगा है। जहा पुत्र जन्म पर खुशिया मनाई जाती है, वहा पुत्री के जन्म पर उदासीनता छा जाती है। गरीब पिता की पुत्री का विवाह दहेज के कारण ही दिन-प्रतिदिन कठिन

होता जा रहा है। पता नहीं कितनी युवतियां दहेज के कारण मृत्यु का शिकार हो चुकी है और कितनी ही युवतियां अभिशाप जीवन का भार ढो रही हैं। दहेज का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि अब युवा वर्ग भी दहेज के लोभ में फंस गये है और अपने विवाह में तरह-तरह की वस्तुओं की माग करने लगते है। यह कैसी दुखद स्थिति है कि हमारी युवा पीढ़ी को भी दहेज की कुप्रथा ने भ्रष्ट कर दिया है। दहेज के कारण कितने ही परिवारों का जीवन हमेशा दु.खी तथा तनावपूर्ण बना रहता है।

वर्तमान समय में दहेज का रूप इतना भयकर हो गया है कि बिना दहेज के अपनी पुत्री का विवाह करना एवरेस्ट की चढ़ाई चढ़ना जैसे प्रतीत होता है। आजकल प्रमुख वैज्ञानिक उपकरण जैसे टेलिविजन, कूलर, स्कूटर, फ्रिज, धुलाई मशीन इत्यादि दहेज के लेन-देन की आवश्यक वस्तु बन गये है। बिना इनके, लेन-देन के तो विवाह करना असम्भव होता है। कहीं-कहीं तो यह देखा गया है कि वर पक्ष वाले हजारों रुपये बैण्ड बाजों पर फिजूल खर्च करके वह खर्चा कन्या पक्ष को वहन करने के लिए बाध्य करते हैं। इस प्रकार का खर्च सिर्फ सामाजिक प्रतिष्ठा दिखाने के लिए ही माना जा सकता है।

प्रत्येक माता-पिता की यह इच्छा होना स्वाभाविक है कि उनकी पुत्री सुयोग्य व्यक्ति की गृहस्वामिनी बने। साथ ही विवाह भी अच्छे कुल व गोत्र के अन्तर्गत ही शुद्ध खानदान में हो। ऐसी स्थिति में सब वर पक्ष यह देखता है कि कन्या पक्ष की मन की सारी स्थिति अनुकूल मिल गई है, तो इनसे सौदे बाजी की भी जा सकती है। फलतः उनकी धन सम्बन्धी माग बढ़ जाती है क्योंकि सम्पन्न घर के योग्य व्यक्ति के लिए अनेक कन्या पक्ष के लोग विवाह का प्रस्ताव लेकर आते ही रहते है।

दहेज प्रथा भारतीय समाज को क्षय रोग की तरह नष्ट करती जा रही है। इसका प्रभाव भारत में नारी वर्ग को जितना कटु और कर्कश स्पर्श कर रहा है उसका भारत में आने वाले भविष्य से गहरा सम्बन्ध है। भारत आर्थिक दृष्टि से दो भागों में बटा हुआ है पहला भाग अत्यधिक शारीरिक श्रम कर अपनी दिनचर्या को चलाता है। परन्तु दूसरे भाग की आर्थिक स्थिति इतनी सुदृढ है कि उसको यह तक पता नहीं कि उसके पास कितना धन है। इस प्रकार भारत में धन के वितरण में अत्यधिक विषमता पायी जाती है। अमीर लोग अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने हेतु अत्यधिक दहेज देते है, वे यह भी नहीं सोचते की क्या गरीब अपनी बेटियों से प्यार नहीं करते होंगे जो दहेज के अभाव में अपनी माता-पिता की विवशता की छाया में भारतीय नारीत्व की गरिमा को आंच नहीं आने देती। यही नहीं भारत की अनेक माताएं तो इस गरिमा को बनाये रखने हेतु अपने शरीर तथा अपनी पुत्री के शरीर पर तेल और दियासलाई को स्थान दे देती है। भारतीय समाज इतना दलित हो चुका है कि विवाह, लड़के और लड़की का नहीं होता अपितु वर पक्ष कन्या पक्ष की बहुत बड़ी परीक्षा लेता है। अगर कन्या पक्ष को सन्तुष्ट करने की इस अग्नि परीक्षा में सफल हो गया तो ससुराल में गई हुई अपनी बेटी के सुखी होने की कल्पना कर सकता है, नहीं तो पिता की आर्थिक

व्यवस्था भी दहेज के रूप मे बेटी के साथ चली जाती है और वह नव वधु अपनी अनेक मनोभावनाओं को सजाते हुए जीवन के नये द्वार मे प्रवेश करती है। वह यह सोचती है कि न जाने कितनी अशोचनीय शुभकामनाए मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। किन्तु वहा उसे मिलते शब्दो और उलाहनो का एक विशाल जाल और अन्तत केरोसीन तेल की पीपी और दियासलाई। वह माता-पिता बडे भाई-बहन का अगाढ स्नेह बडी धैर्य मे छोडकर ससुराल आती है, इसके बदले समाज की वह काली छाया उसकी समस्त आकाक्षाओ पर तुषारापात कर देती है। ससुराल के प्रथम दिन प्रथम प्रवेश के साथ ही उसे जिन प्रताडनाओ का शिकार बनना पडता है। वे सभी अपनी कर्कश भाषा मे उसके मनोभावो को ऐसा झकझोर देते हैं कि वह किसी से न कुछ कह सकती और न वह उसका उचित हल ही ढूढ पाती है।

4 दहेज का वर्तमान स्वरूप तथा उसके विभिन्न कारणो का सर्वेक्षण

विवाह वर्तमान मे एक तरह का अप्रत्यक्ष व्यापार बन गया है, जहा किसी परिवार का लडका पढ-लिखकर पैरो पर खडा हुआ वही उसकी बाजार की तरह कीमत लगने लगती है। जिसके पास जितना अधिक धन हो वह उतना ही योग्य वर अपनी पुत्री हेतु प्राप्त कर सकता है। योग्य से योग्य कन्या उसके लिए इस-योग्य नही होती क्योकि उसके पिता के पास देने के लिए मुह मागा धन नही होता। अर्थात् यदि कोई पिता अपनी पुत्री हेतु योग्य वर ढूंढना चाहता है तो उसको यह अधिकार तभी प्राप्त हो सकता है जबकि उसके पास देने हेतु ढेर सारा दहेज हो। इस प्रकार वर्तमान मे विवाह दो आत्माओ के मिलन के लिए नही अपितु ढेर सारा दहेज प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। यह लडके और लडकी का सौभाग्य होता है कि दोनो दहेज की प्रथा के इस कलक से बच जाये। इस प्रकार उन दोनो मे अटूट प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आज समाचार पत्रो म 'एक और जली' का शीर्षक प्रतिदिन पढने को मिलता है। बहू को आते अनेक यातनाओ का शिकार होना पडता है।

भारतीय समाज परम्परागत है। यहा दहेज देने व लेने की परम्परा आदि काल से चली आ रही है। अन्तर केवल इतना ही है कि आदि काल मे पुत्री के पिता अपनी सामर्थ्य के अनुसार पुत्री को दहेज देते थ परन्तु आज पुत्र के पिता दहेज को मागते है और अपनी इच्छानुसार दहेज न पाने पर शादी नही करते हैं। यदि सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण शादी हो भी जाती है तो बहु को अत्य-धिक परेशान किया जाता है जब तक कि वह जल कर मर नही जाती है।

भारत मे अत्यधिक बेरोजगारी व्याप्त है जिसके कारण युवको और युव-तियो को अपना मन मसोस कर रहना पडता है और उन्हे उसी लडके व लडकी से शादी करनी पडती जो उनके माता पिता निश्चित करते है। अनेक स्थानो मे तो दहेज प्रतिष्ठा के रूप म पनप रहा है जब तीन वैवाहिक युवक आपस मे यह बात करते है कि "मैने तो दहेज म पूरा एक लाख रुपया लिया हे' "मै तो फेरो मे मोटर-साइकिल के लिए अड गया", तब उनके साथ बैठा हुआ अन्य मित्र भी मन हो मन यह निश्चित कर लेता है कि वह भी इन मित्रो से अत्यधिक

मात्रा में दहेज लाकर दिखला देगा। उच्च शिक्षा प्राप्त युवकों के माता-पिता दहेज इसलिए लेते है कि उन्होंने अपने पुत्र की पढ़ाई पर अत्यधिक धनराशि खर्च की है।

5. दहेज-प्रथा पर विधिक नियन्त्रण

दहेज की बढ़ती हुई कुप्रथा पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए हमारी संसद् ने दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 पारित किया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत यह प्रावधान उपलब्ध है कि यदि कोई व्यक्ति दहेज लेता है अथवा देता है अथवा दहेज लेने व देने के लिए उक. ता है तो उसे 6 माह तक का कारावास अथवा पांच हजार रुपये तक के जुर्माने अथवा दोनो से ही दण्डित किया जा सकता है।

यदि कोई व्यक्ति उस अधिनियम के पारित होने के बाद प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वर या वधु के माता पिता से अथवा संरक्षक से दहेज की मांग करता है तो उसे 4 से 6 माह तक के लिए कारावास या पांच हजार रुपये तक के लिए जुर्माने अथवा दोनो से ही दण्डित किया जा सकता है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उपर्युक्त विधिक व्यवस्था से इस जटिल समस्या का निदान हो पा रहा है। इस प्रश्न का उत्तर हमें नकारात्मक ही मिलेगा। क्या दिन दहेज के अभिशाप के रूप में हत्याएँ दिन प्रतिदिन होती रहेंगी। क्या सरकार इस सन्दर्भ में जो कुछ कर रही है पर्याप्त है? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक भारतीय नागरिक को ढूंढना होगा। दहेज विरोधी कानून को जानने के लिए हम सभी को जागरूक होना चाहिए। हमारे पड़ोस में अगर इस प्रकार की कोई दुर्घटना घटित होती है तो हमारा यह विधिक एवं नैतिक दायित्व बनता है कि उसकी सूचना अतिशीघ्र पुलिस अथवा सम्बन्धित अधिकारी को दें।

दहेज विरोधी अधिनियम मे अनेकों संशोधन और किए जा रहे है। अब दहेज लेने व देने को अपराध घोषित किया जा रहा है। एक अन्य संशोधन के फल-स्वरूप मान्यता प्राप्त समाज-सेवी संस्थाओं की दहेज सम्बन्धी शिकायतों पर न्याया-लयों द्वारा कार्यवाही की जा सकेगी।

6. दहेज-निवारण में युवा वर्ग की भूमिका

दहेज लेना हमारी युवा पीढ़ी के सम्मान के विरुद्ध है। दहेज युवाओं को विक्रय की वस्तु बना देता है। दहेज के कारण विवाह के बाद भी पारिवारिक जीवन में आवश्यक सद्भाव तथा प्रेम का विकास नही होता। यदि दहेज के रूप में अत्य-धिक नकदी व सामान मांगकर ले भी लिया जाय तो भी युवाओं के पारिवारिक जीवन में जहर घुल जाता है और पारिवारिक असन्तोष उत्पन्न हो जाते है। विवाह दो परिवारों के बीच स्नेह सम्बन्ध की स्थापना करने वाली सामाजिक संस्था होनी चाहिये, किन्तु दहेज इन सम्बन्धों को दुश्मनी में बदल देता है। प्रत्येक पिता अपनी पुत्री को स्वेच्छा से बहुत कुछ देना चाहता है किन्तु जब दहेज के नाम पर उससे बलपूर्वक धन छीना जाता है तो उसके मन से प्रेम का भाव हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है। इसके लिए युवकों को प्रभावी कदम उठाना चाहिये तथा उसे व्याव-हारिक जीवन में स्वीकार करना चाहिये।

विवाह मुख्य रूप से दो युवा व्यक्तियों का आपसी मामला है। यदि युवक और युवती विवाह अपना पसन्द से करने लगे तो दहेज की प्रथा अपने आप समाप्त हो सकती है। जब लोभी माता पिता विवाह निश्चित करते हैं तभी दहेज की समस्या उत्पन्न होती है। युवक युवतियों को पहले अपने पैरों पर खड़े होकर विवाह करना चाहिये। अतः युवक-युवतियों के बीच स्वेच्छिक विवाहों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

दहेज की प्रथा को युवा पीढ़ी ही जड़मूल से समाप्त कर सकती है और उसे इस कार्य के लिए आगे आना भी चाहिए। दहेज युवा पीढ़ी के जीवन को ही सबसे ज्यादा दूषित कर रहा है। इस कुप्रथा ने प्रेम सम्बन्ध को व्यापारिक लेन देन में बदल दिया है और जीवन में प्रेम के महत्व को नष्ट कर दिया है। इस कुप्रथा के कारण कितनी ही युवतियों का जीवन अभिशाप ग्रस्त हो गया और कितने ही युवाओं की आशाओं पर तुषारापात हो जाता है। जब तक युवा वर्ग जी जान से इसके उन्मूलन हेतु सहयोग नहीं देंगे तब तक दहेज उन्मूलन का कार्य असम्भव सा है। अतः कानून के साथ युवा पीढ़ी में दहेज प्रथा के विरुद्ध सामाजिक जागृति की भावना बहुत जरूरी है।

7 दहेज समस्या का समाधान

हमारे सामने एक बड़ा प्रश्न यह है कि हमारे समाज में फैली हुई इस प्रथा का उन्मूलन किस प्रकार किया जा सकता है? हमारे लिये यह प्रश्न कोई नया नहीं, मनीषी इस समस्या का निदान बहुत दिनों से करते आ रहे हैं किन्तु अब तक इसका कोई उचित हल नहीं निकाल पाया है। सामान्यतः सामाजिक दृष्टि से जब वर पक्ष कन्या पक्ष से दहेज की मांग करता है तो वह इसे अपना सामाजिक अधिकार समझता है और समाज भी उसे मान्यता देता आया है। अतः सबसे पहले आवश्यकता यह है कि समाज की गन्दी मान्यताओं को समूल नष्ट किया जाये। अगर इस प्रकार के विवाहों में समाज के लोग सहयोग न दें और सामाजिक दृष्टि से इसका विरोध हो तो निश्चय ही लोगों पर इसका प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि सामाजिक बुराईयों को समाज ही दूर कर सकता है। कानून सामाजिक मान्यताओं को रोक नहीं सकता। अतः दहेज प्रथा को कानूनी रूप न देकर व्यावहारिक रूप दें और यह सोचें कि विवाह की मान्यता धर्म के अतिरिक्त और किसी बंधन से आबद्ध नहीं होनी चाहिये। विवाह के क्षेत्र में एक परिवर्तन यह भी आवश्यक है कि उसमें व्यर्थ के खर्चों जैसे आतिशबाजी, बैण्ड बाजा आदि से भी मुक्ति होनी चाहिये।

कुछ प्रगतिशील संस्थाओं ने दहेज विरोधी अभियान चलाकर नई जागृति पैदा की है जिससे हजारों नवयुवतियों व युवकों ने दहेज न लेने का प्रतिज्ञा कर व दहेज न लेकर स्वाभिमानपूर्वक सुखद दाम्पत्य जीवन निर्वाह कर रहे है।

दहेज दावाग्नि की तरह निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। यदि निम्न सुझावों पर अमल किया जाय तो किसी सीमा तक इस पर अंकुश लगाया जा सकता है।

(1) दहेज का उन्मूलन करने हेतु अत्यधिक कठोर कानून बनाये जाने चाहिये व दहेज का लेन देन करने वालों को कठिन से कठिन सजा का प्रावधान

करना चाहिए । विभिन्न समाज सुधारक व राजनेता वैसे तो दहेज के खिलाफ काफी भाषण देते है । परन्तु स्वयं अपने पुत्र-पुत्रियों की शादी में अत्यधिक दहेज का लेन-देन करते है । यदि ऐसे दो-चार (बुगला-भगतो) को कारावासित किया जा सके तो आम जनता को इससे सबक मिलेगा ।

(2) दहेज के उन्मूलन के लिए बेरोजगारी का उन्मूलन करना अति आवश्यक है तथा सरकार को बैंको द्वारा बेरोजगारों को कर्जा दिलाने की व्यवस्था करनी चाहिये ताकि युवक अपने पैरो पर खड़े हो सकें और स्वाभिमानपूर्वक अपना दाम्पत्य जीवन निर्वाह कर सकें ।

(3) सामाजिक सगठनों व सस्थाओं द्वारा समय-समय पर सामूहिक विवाहों का आयोजन किया जाना चाहिये । फलस्वरूप अनेक फिजूल खर्चो से आसानी से बचा जा सकता है ।

(4) दहेज का लेन-देन करने वालो का सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिये ।

(5) दहेज के उन्मूलन हेतु प्रेम-विवाह या अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये । फलतः युवक अपने आप दहेज का बहिष्कार करेंगे ।

(6) दहेज के उन्मूलन के लिए बालकों को दहेज की बुराईयों से अवगत करना चाहिये और पाठ्यक्रम में भी इस विषय को गम्भीरता से यथोचित स्थान दिया जाना चाहिये । समय-समय पर दहेज विरोधी नाटकों का मंचन पाठशालाओं मे कराया जाना चाहिये ।

8. उपसंहार

सारे देश के ग्रामीण तथा शहरी इलाकों में दहेज के नाम पर आत्मदाह तथा हत्याएं हो रही है । समाचार-पत्रों में दिन प्रति-दिन वेदनापूर्ण समाचार प्रकाशित हो रहे हैं । दहेज के विरोध में नारों का भी खूब बोलबाला है । अन्ततोगत्वा हमारे सम्मुख यह प्रश्न उभर कर आता है कि स्थान-स्थान पर जुलुस आन्दोलन व प्रदर्शनों के बावजूद इस सामाजिक कुप्रथा को रोका क्यो नही जा रहा है । क्या सामाजिक जीवन मे व्याप्त इस बिमारी का इलाज हो सकता है अथवा यह समाज के लिए यह कैंसर सिद्ध हो चुकी है । वस्तुत: यह कैंसर नहीं है । इस बिमारी का इलाज हमारी मनोकामनाओं मे परिवर्तन पर निर्भर करता है ।

यदि दहेज के सभी पहलुओ पर व्यापक दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन करें तो यह प्रतीत होता है कि दहेज की दुष्प्रवृत्ति को उखाड़ फैंकने में हमारी दूषित मानसिकता सबसे बड़ी बाधा बन रही है । आज भी लोग इस बात पर गर्व अनुभव करते हैं कि उनके सुपुत्र को दहेज में कितना धन अथवा बहुमूल्य सामग्री मिली है । हिन्दू समाज के सभ्रान्त व पढे लिखे लोग भी दहेज लेने-देने मे कोई सकोच नही करते ।

आज आवश्यकता अपनी कलुषित मनोभावनाओं मे परिवर्तन करने की है । आइए इस दहेज-विरोधी आन्दोलन मे हम सभी अपने आपको सक्रिय बनाकर इस कुप्रथा का समूल निवारण करें ।

LAW, JUSTICE, MORALITY AND SOCIAL CHANGE

Synopsis

1. Introduction.
2. Concept of Law.
3. Concept of Justice.
4. Concept of Morality.
5. Relation between Law, Justice and Morality.
6. Law, Morality and Social Change.
7. Conclusion.

1. Introduction —In the history of Legal thoughts, there have been countless discussions and dialogues among the lawyers, jurists and social and political thinkers on the problems of law, justice, ethics morality and their inter-relationship The whole of the life of the human-being can not be regulated by law alone This is also true of ethics, morality or justice It is generally said that law is concerned with the external actions or conduct of the individuals, whereas ethics and morality deal with the inner conscience Law has its basis in social conduct Ethics and morals lay down the intrinsic values for human conduct According to Jermy Bentham, Law has just the same centre as morals, but it does not have the same circumference

There is another problems of relationship between law, ethics and morality On this issue, the jurists, philosophers and the authorities concernel with the administration of law and justice are divided in two blocks or ideologies Whereas one ideology believes in the separation of law and morality, the other ideology says that there is a complete fusion between law and morality We will now discuss, in detail, the concept of law, justice, ethics and morality and how these help in furthering the cause of social change

2. Concept of Law :—There are two extreme positions which define and characterize the concept of law the one goes by its

say that a community which does not have general prescription at all would not be regarded as having a legal order

Taking these three essential elements into consideration, we may say that concept of law imports a norm of conduct set for a given community and accepted by it as binding Besides, enforcement of law through various sanctions is also essential element in this regard

According to Lon L Fuller, if law seeks loyalty of the people, it must represent human achievements If laws, even bad laws, have a claim to our respect, then it must represent some general direction of human efforts The indication behind Fuller's views, is towards principles of inner morality

3. Concept of Justice :—There is no scientifically perfect or precise definition of justice Justice can not be defined in an absolute term It is rather a relative term It is because of this reason that sometime it is said that justice is never absolute but relative

Sometimes, when facts and decision of the tribunal is put up before us and we are asked to comment upon, then we can simply assess as to whether justice has been done or not in the given problem A pertinent question is, therefore, generally asked–when there is no absolute justice, what is the necessity of establishing a large machinery for administration of justice The simple answer, which can safely be suggested here is that the judicial system, as a whole, makes an earnest effort to impart justice The judges, lawyers and any other authority associated with the administration of justice seeks to proceed in quest of justice We observe flexibility of appeals in judicial process This is, perhaps one of the methods of imparting justice so that when litigants feel injustice being inflicted by one court, they could go in appeals frequently before the higher courts

Jermy Bentham has, therefore, rightly said "The administration of justice by the state must be regarded as a permanent and essential element in civilization and a device that admits of no substitute" Salmond has put it—"justice is the enforcement of rights and duties redressing or punishment of wrongs"

We now come to different kinds of justice being talked of in the present phenomena There are three fundamental rules of natural justice

0 A person can not be punised without being heard

2 A man can not be a judge in his own cause.

3 Judgement should be a speaking judgement.

One of the objectives, which is enshrined in the Preamble of the Indian Constitution is the achievement of Socio-economic justice. The Preamble secures to every citizen the justice, i e social, economic and political Justice has further been divided in the following forms : civil justice, criminal justice, administrative justice etc. Moral justice denotes justice imparted according to moral laws, which is more or less concerned with the inner conscience of the people.

There is another category of justice -public justice and private justice. Public justice is administered through the instrumentality of the state To illustrate, Fundamental rights given in part III of the Indian Constitution are available to the Indian citizens as against the arbitrary functioning of the state. When citizens approach Supreme Court or the High Courts against the state, there is always a relationship of state and individual citizen. When there is a dispute between individuals, it is a case of private justice.

Then there is still another category of justice, which is known as legal justice. Legal justice denotes justice according to law. It is particularly in this sense that we generally call courts as courts of law and not courts of justice. The judges interpret laws in enormous ways It is the interpretation of laws through which judges delivers justice. Sometimes when there is a vacuum in parliamentary legislation, it is the event when judges do make laws It is also a kind of justice through judge-made laws.

4. **Concept of Morality**—The concept of morality has been considered as characteristic element of human activity. Moral aappeals to our conscience and marks our ability to decide between right and wrong. Morality, strictly speaking, guides principles of ideal behaviour in consonance with what is right Morality appeals to the human conscience; its sanctions are also mainly internal. There are external sanctions also in morality. These are called social sanctions because these are inflicted by society when its rules of morality are not complied with.

The rules of highest moral laws, like rules of div'ne law are constant and internal and are not changeable with the change of time and place. Society, however, does not go by the rules of divine law or the highest moral laws A greater majority of people in society go by the rules of general pleasure and pains

These may be termed as rules of positive morality Positive morality is what a community at a particular time and place has thought it convenient, expedient or reasonable to enforce it as binding on the people Positive morality varies from place to place and people to people

Positive morality is what society creates or dictates It is the conscience of the people or the general conscience Even in positive morality, the rules of natural laws, religious principles, principles relating to good and right are existent The method of enforcement of positive morality is through social sanctions

5. Relation between Law, Justice and Morality—In any given Legal System, one can find close relation between social morality and the legal order These can not be and there never has been a complete separation of law, justice and morality In the contemporary society, law becomes a major factor in the formation of social morality, this inherent relationship between the two can not be overlooked

Though law and morality are not identical, yet there is an intimate relationship between these two If law is based on public policy, public policy itself should be based on some healthy principles which are valued by the community at a particular time and place Laws, in the present day democracy, on the whole are based on public opinion Public opinion is on the whole based on healthy moral principles

The formation of a legal system is not coercive power but certain fundamental and accepted rules specified in the essential law-making procedure These rules are not the rules of law, but rules of morality, because they must necessarily be rules of what is accepted by the society as just, fair and reasonable It is true that there are certain laws which are not based on principles of natural laws and may not even be based on positive morality Such laws stand only by force of sanctions Nevertheless, it is *true that there are many laws and legal principles which are based* on definite and well recognized moral principles and are meant to serve, protect and upkeep morality and promote justice in real sense

Law, morality and justice are over-laping circles Justice is an end itself, whereas law and moral principles are the means to achieve justice If law lags behind popular standards of morality or ideals of justice it falls into disrepute If legal standards are

will bring a complete socio economic change Creating a welfare state and an egalitarion society The provisions of Hindu laws on the subject of marriage adoption succession and maintanance provides for a revolutionary social change among Hindus The land reforms laws abolution of privy purses, abolution of fundamental right of property bank nationalization laws, plethora of labour welfare legislations after independence are some of the illustrations of socio-economic change through the instrumentality of laws

7. Conclusion—After having carefully examined the concepts of law, justice and morality and their place in the past as well as in the contemporary Indian society we may now conclude that law has its limitations It is not mean to make people moral by the force of physical sanctions Law is of course, necessary for the maintenance of morality at a decent level Though the relation between law and morality is certainly very close and intimate and though without such a close relationship we can not have the solidarity of the state and safety of the people yet it has to be borne in mind that all that is in morality can not be enjoined by law Law should not try to do much but should leave many things to other values including the value of education and the art of ideal leving

It has rightly been asserted by a jurist that contemporary legal theory should not make efforts to separate law and morality but regard them both as amalgum of legalistic ethics and political institution Then only the legal theory and rule of law will become more realistic and meaningful

In the end, we can rightly conclude that morality work as a restraint upon the powers of the legislature because the legislature can not venture to make a law which is completely against the morals of the society In international law also morality exercises a great influence The brutalities and in human acts in the Second World War made the people to come back to morals and efforts are being made to establish standards and values which the nation must follow Perhaps, there is no other so forceful ground to justify the Nuromberg trials as morals Therefore, if law is to remain closure to the Life of the people and effectiveness, it must not ignore morals as principles of morality

Freedom of the Press in Democracy

SYNOPSIS

1. Introduction
2. Constitutional Aspect
3. Freedom of the Press : A Comparative View
4. Censorship on the Press
5. National Emergency and Freedom of the Press
6. Social Obligations of the Press
7. Conclusion.

1. Introduction—Press is a very powerful means of communication. The Press plays a very important role in educating the people It attempts to establish harmonious relations between the people and the government In a democratic system of government, the freedom of the Press can not be over-emphasised. Free Press is a must for a democratic set-up. Some people, therefore, rightly call it as "the watch-dog of democracy" Moreover, Press is a powerful means of creating public opinion Democracy can thrive not only under the vigilant eye of its Legislature, but also under the care and guidance of public opinion and the Press is, par excellence, the vehicle through which public opinion can become articulate.

2. Constitutional Aspect—The Constitution of our country grants full freedom to its citizens to express their opinion or feelings though Press—The fundamental right of the freedom of speech and expression This freedom is essential to political liberty and for proper functioning of democracy. The American Press Commission has said : "Freedom of the Press is essential to political liberty. When men can not freely convey their thoughts to one another, no freedom is secured, where freedom of expression exists the beginning of a free society and a means for every retention of liberty are already present. Free-expression is, therefore, unique among liberties' The Indian Press Commission has also expressed a similar view It says that "Democracy can thrive not only under the vigilant eye of its Legislature, but also under the care and guidance of public opinion and the press is, par excellence, the vehicle through which public opinion becomes articulate".

Unlike the American Constitution, Article 19 (1) (a) of the Indian Constitution does not expressly mention the liberty of the

press but it has been held by the Indian Courts in a number of cases that liberty of the press is included in the freedom of speech and expression The press has no special rights which are not to be given or which are not to be exercised by the citizen in his individual capacity The editor of a press or the manager are merely exercising the right of the expression, and therefore, no special mention of the freedom of the Press is necessary

The freedom of the press is not confined to newspapers and periodicals alone It includes also pamphlets and circulars and every sort of publication which affords a vehicle of information and opinion

Like other freedoms given in Art 19 (1) of the Indian Constitution, freedom of the Press or the freedom of speech and expression is also not absolute In other words, no citizen has a right to exercize freedom of the Press in an absolute manner For this purpose, the framers of the Indian Constitution have evolved a theory of balance between individual liberty and social control Clause (2) of Article 19 contains the grounds on which restrictions can be imposed on the free exercise of the freedom of the Press The restrictions to be imposed by the State authorities should be quite reasonable and, therefore, they are subject to judicial review. The grounds of reasonable restrictions as provided under Art 19 (2) are as follows

(a) Security of the State,
(b) Friendly relations with Foreign States,
(c) Public Order,
(d) Decency and Morality,
(e) Contempt of Court,
(f) Defamation,
(g) Incitement of an offence,
(h) Sovereignty and integrity of India

3. **Freedom of the Press : A Comparative view**—In democratice countries like Great Britain and the United States of America the Press or the Newspapers openly and boldly criticize the policies of the Government when they feel that government policies will lead the country and its citizens to a wrong path They never feel afraid of exposing the errors or fallacies of the Government or the party in power A case decided by the American Supreme Court can be authoritatively cited here In The New York Times case,

where some secret documents containing informations about America's involvement in the Vietnamese War were alleged to have been stolen from the President's Office and Government requested the Court to restrain them from publishing these documents on the ground that their publication was likely to endanger the security of the country. The U. S. Supreme Court held that the publication of the said documents was in the interest of the public and Government has no legal right to impose restriction on them. The Court further held that in a matured democracy like America, its citizen should know as to what is the official policy of the Government on Vietnamese War.

In Communist form of Governments like U. S. S. R. and China, the Press is directly and fully controlled by the Government. Newspapers, in these countries, have to explain, defend, justify and support the official policies and actions of the Communist party and its government. The Press, in such countries, does not in any way, make an attempt to lower the image of the party and the government in the estimation of the people.

4. **Censorship on the Press**—The imposition of the censorship on a journal or a newspaper previous to its publication would amount to be an infringement of civil liberty of the citizens. Our Supreme Court, for the first time in the history of its judicial pronouncements, in **Brij Bhushan vs. State of Delhi**, held that the imposition of pre-censorship on a journal is a restriction of the liberty of the press which is an essential part of the freedom of the speech and expression declared by Article 19 (1) (a). Similarly, prohibition on newspapers from publication of its own views or the views of its correspondents about the burning topic of the day is a serious encroachment on the valuable freedom of the press. The Supreme Court in **Express Newspaper vs. the Union of India** further held that a law which imposes pre-censorship or curtails the circulation or prevents newspapers from being started or requires to seek Government aid in order to survive, is violative of the freedom of the Press as provided in Article 19 (1) (a) of the Indian Constitution.

5. **National Emergency and Freedom of the Press**—The Press in India has been enjoying full freedom since the country achieved independence from the British rule. It was only during the armed conflict [illegible] our Government

found it necessary to impose certain restrictions on the freedom of the Press in the interest of the nation during emergency However, an unexpected development took place when the Congress Government declared a State of emergency on June 25th, 1975 in the country At that time, the Government imposed pre censorship on the Press preventing the newspapers from publishing any critism of the government actions

It is essential for the readers to have a precise information about the situation of civil liberties during the state of emergency Art. 358 of the Indian Constitut on provides for the suspension of the freedoms guaranteed to the citizens by Art 19 of the Constitution It says that while a Proclamation of Emergency is in operation, nothing in Art 19 shall restrict the power of the State to make any law or to take any executive action abridging or taking away the rights guaranteed by Art 19 of the Constitution It means that as soon as Proclamation of Emergency is made the freedom of the Press is automatically suspended As soon as the Proclamation of Emergency ceases to operate, Article 19 which remains suspended during emergency automatically comes into life and begins to operate No action will lie for anything done during the emergency even after the emergency is over

The 44th (Amendment) Act, 1976 has made important changes in the aforesaid situation After 44th Constitutional Amendment, Art. 19 will be suspended only when a Proclamation of Emergency is declared on the ground of war and extesnal aggression and not when internal emergency is declared on ground of armed rebellion

6. Social Obligations of the Press—The Press owes a great responsibility to the nation and its people, whose voice it should communicate It has not to preach hatred and violence, but discipline and decency, law and order, respect for the individuals, and a certain amount of understanding, sympathy and tolerance which are the essential characteristics of democracy

Now what do the people of India expect from the free Press The first and the foremost requirement is authenticity of the news The next requirement is unbiased and continuing assessement of the government policies and the State actions The main criterion for assessment should be the interest of the nation, which should be considered as supreme in the underdeveloped county and heterogenous society like ours There must be no criticism for the sake

the women were confined to the four-walls of the house and were also subjugated to the male domination in every sphere of life. The Britishers did not consciously set out to improve the women's conditions, but the ideas they brought from the west indirectly create an atmosphere in which some of our social reformers like Raja Ram Mohan Roy, Ishwar Chander Vidhya Sagar, K. C. Sen and Pandita Rama Bai could work and achieve a considerable measure of success by launching a movement against female infanticide which was the supreme act of male arrogance The following legislations were enaced and enforced for the upliftment of women at that time

1. Sati Partha Abolition Act, 1829
2. Hindu Widow Remarriage Act, 1856 and
3. Child Marriage Restraint Act, 1929

Pt Nehru was eager that women should participate in the freedom movement Addressing a women volunteer training camp at Bombay in 1931, he said "In a national war, there is no question of either sex or community, whoever is born in this country ought to be a soldier" Nehru also involved women in the important work of constitution-making Eminent women like Sarojini Naidu, Hansa Mehta, Renuka Roy, Durga Bai Deshmukh and Begum Aziza Rasul took part in the constitution-making. There was no voice of dissent when the chapter on Fundamental rights was written, giving women a status of equality with man These factors brought a ray of hope in the lives of woman. They threw up purdah and came to study in schools, colleges and universities With the spread of modern education, woman began to realize their role in the national movement and reconstruction of India.

3. **Place of women in contemporary Indian Society**—The condition of woman in India is still very pitiable. They are still uneducated and untrained. The urban population of educated women can not be said to have really progressed. They are either unemployed, or employed in such jobs as teaching in primary schools, operating telephone boards etc. In rural areas, the condition of women is far from satisfaction. They are illiterate, unemployed, economically dependent on the earnings of the husband or any other wage earner To conclude, we can mention here that exploitation of the women still exists in every walk of human life. Discrimination does exist and the social system still remains dominated by the man in his family

The need for improving the status of women have been recognized throughout the world The year 1975 was celebrated as international women s year throughout the world A World Women s Conference was held in Mexico 6000 men and women from 130 countries participated in the Conference and chalked out a 10 year programme for removing discrimination on grounds of sex in the social economic and political fields

During these years Government too have introduced a series of reforms for upliftment of women e g Equal wages for women improvement in their working conditions social security schemes ample opportunity for employment anti dowry laws and amendments in the laws of inheritance Some of the states like Punjab Haryana and Rajasthan have made giving and taking dowry a cognizable offence These measures will go a long way in improving the status of women in our country We will now deal with in brief the legislative developments pertaining to improving the conditions or status of Indian women For the purpose of our study we will deal with them in the following major heads—

1 Indian Women and the Constitution
2 Labour Legislations for working women
3 Indian Women and the family Law
4 Indian Women and the Criminal Law

4 **Indian women and the Constitution**—In the preamble to their Constitution the people of India while assuring the unity and integrity of the Nation have also assured the dignity of the individual Women's dignity therefore stands equally assured along with men by the country's Fundamental Law The dignity of women is so dear to the people of this land that under Article 51-A it has been made a fundamental duty of every citizen to renounce practices derogatory to the dignity of the women Further the Constitution makers have also resolved to secure inter alia Equality of status and opportunity to all its citizens

To effectuate equality between men and women the Constitution prohibits the state to make any kind of discrimination on the basis of sex Not only this but the Constitution goes further and has empowered the State to perform a positive act where it is needed by giving preferential treatment in favour of women The Constitution also prohibits traffic in human beings including traffic in women for immoral purpose Besides these fundamental rights

guaranteed to the women, Part IV of the Constitution directs the State to secure, while making laws, that women, equally with men, have the right to an adequate means of livelihood; or that for equal work, women and men get equal pay or that the health and strength of women, as of men as workers, are not abused and that women are not forced by economic necesity to enter avocations not suited to their age and strength The State is also direceted to make provision for maternity relief.

The fundamental right of women not to be discriminated on the basis of their sex offers them unqualified political and civil equality along with men Thus the guarantee of equality of sexes is secured by providing adult sufferage, equality in employment, and equal eligibility for the office of the President, Vice-President, membership of Parliament and the State Legislature, Judgeship of High Court and the Supreme Court.

Art 15 (3) of the Indian Constitution also provides for preferential treatment to momen Thus, establishment of educational institutions solely for women or reservation of places for women at public entertainments or in public conveyances would be justified under Article 15 (3).

From the foregoing brief account of the Constitutional rights of the women it is evident that the Constitution makers have taken special care to elevate the social and economic status of the women. The courts in India too have performed a creative role in implementing the spirit which permeates the rights of women

5. **Labour Legislations for Working Women**—The National Commission on Labour, set up under the chairmanship of Justice Gajendragadkar, observed that the women workers did not participate in the trade union activities in the early years The reasons were obvious However, with social awakening, women workers are now becoming more alive to their interests and joining unions in large numbers

In order to protect the women workers from exploitation in various industries, the Government have undertaken various legislative measures with regard to working conditions, hours of work, leave and wages The Indian Factories Act, 1948 provides that every factory wherein more than 50 workers are employed, there should be provided creches for the use of children of women workers According to the Act, no women workers shall be permitted to work in any industry during 7 p m to 6 a m Alongwith

other benefits, women workers are entitled to maternity benefits Such provisions have been made under various Central and State Laws

The Maternity Benefit Act, 1961 provides that every woman shall be entitled to the maternity benefits from her employer at the rate of the average daily wage Similar provisions have also been made in the Mines Act of 1952 The Act provides that no woman shall be employed in any part of a mine which is below ground It further provides that even on surface no woman shall be allowed to work except between 6 a m and 7 p m Besides, every woman employed in a mine above ground shall be allowed an interval of not less than eleven hours between the termination of employment on any one day and the commencement of the next period of employment However, the State Governments can relax these limits but in no case the employment of women is permitted between the hours of 10 p m and 5 a m Thus the Government have undertaken various legislative measures regarding women workers in industrial establishments Even then the conditions of women in industry is not yet satisfactory and still much is to be done in this direction India lags far behind the standards of labour welfare adopted by most industrial countries in the world It is a blot that demands early removal by the legislators and the authorities responsible in this behalf

6. Indian Women and the Family Law—The Post-Independence period has seen the women emerging supreme and competing with man in all areas of activity while retaining their values of life A number of legal disabilities by which half of population had suffered for years together were removed at one stroke after enacement of the following social legislations—

1 Special Marriage Act, 1954
2 Hindu Marriage Act, 1955
3 Hindu Succession Act, 1956, and
4 Hindu Adoption and Maintenance Act, 1956

Radical and far-reaching reforms of both marriage and divorce laws alongwith ownership of property adoption and guardianship of children and the giving and receiving dowry being declared an offence, have brought the concept of equality under the law which govern Sikh, Budhist and Jain communities also

A considerable body of educated Muslim opinion has openly

favoured a change in the Muslim Personal Law. The need for it was felt even at the beginning of this century, when the well known Muslim social reformer, Sir Syed Ahmed Khan, wrote in his *Journal that the reason for decline of Muslim women has been that* they have not realised that the presentgea demands a totally new legal system which should deal with the social, political and administrative system Today there are several organised groups *of learned Muslims who are demanding changes in the Muslim* Personal Law

In the sphere of Family Laws, even in the past some legislations improving the status of Indian women were enacted. They are : Female Infanticide Prevention Act of 1870, Special Marriage Act 1872 amended in 1932, Divorce Act 1889, Legal Practioners Women Act, 1923, Married Women's Property Act, 1874. A very important law enacted in this field was Hindu Women's Right to Property Act, 1937, which is popularly known as the Deshmukh Act, gave better rights to Hindu women in respect of property. It restored the right of inheritance to the daughter-in-law and the grand daughter-in-law and conferred a right to seek partition on the widow Hindu Married Women's right to Separate Residence and Maintenance Act, 1946 enables the unfortunate Hindu wife to stay separately from her husband and to claim maintenance from him under *certain circumstance like loathsome, disease, bigamy,* cruelty, disertion, concubinage conversion etc. Under the Special Marriage Act, 1954, any male of the age of 21 and any female of the age of 18 can contract a civil marriage. A special feature of this Act *is that provision is made for obtaining divorce by mutual* consent.

The other Acts like Dowry Prohibition Act, 1961, Women's Property Extension Act, 1959 were also enacted to ameliorate the *image of the women in society. The Supression of Immoral Traffic Act in Women* and *Girls Act, 1956* was enacted *by the Indian* Parliament to safeguard the interests of helpless women. Threefold protections were granted to the aggrieved women—

1 *There is a provision for detention in protection Homes.*
2 The Court can take assistance of woman social workers in determining the question of custody of girls rescued from brothels
3 *A person guilty under this Act can be released on probation of good conduct*

7. **Indian Women and the Criminal Law**—Certain laws safeguarding the interest of the Indian women, who is considered as a weaker section of the society, have been enacted before and after Independence A brief account of such legislations is given as hereunder—

1 Section 497 of the Indian Penal Code punishes the male offender for committing the offence of adultery even though the women also is a party to the commission of the offence Since the physical constitution permits discrimination in favour of a woman, she is not liable to any punishment under this section

2 Under the provisions of Medical Termination of Pregnancy Act, 1971, termiration of pregnancy is permitted on the following grounds where the continuance of pregnancy would involve a risk to the life of the pregnant mother and risk of grave injury to her physical and mental health humanitarian grounds where the pregnancy has been caused by rape Termination of pregnancy can be done only by registered practiorers certified for the purpose in approved place, mainly Government hospitals

3 The Suppression of Immoral Traffic Act in Women and Girls Act, 1956 was enacted by the Indian Parliament to safeguard the interests of helpless women Three-fold protections were granted to the aggrieved women—

   (a) There is a provision for detention in protection Homes,
   (b) The Court can take assistance of woman social social workers in determining the question of custody of girls rescued from brothels
   (c) A person guilty under this Act can be released on *probation of good conduct*

4 Under the amended section 125 of the Code of Criminal Procedure, 1973, even a divorced wife is entitled to get maintenance from her husband The amended section includes a woman who has been divorced or has obtained divorce from her husband and has not re married Muslim wife is also governed by this law

5 The Criminal Law Amendment Bill which was introduced

in Parliament in 1980 has been assented to on 25 December, 1983 becoming Act of 1983. The Act amends the Indian Penal Code, the Code of Criminal Procedure, and the Indian Evidence Act, in certain important aspects. The offence of rape by certain categories of persons is to be severally punished for a term which shall not be less than ten years, may be for life. Moreover, it shall not be lawful for any person to print or publish any matter in relation to any such proceeding except with the previous permission of the court One more important change has taken place in this field. If the aggrieved woman says in her evidence before the court that she did not consent, the court shall presume that she did not consend. This provision shifts the whole burden of proof upon the accused and is a departure from the basic juristic maxim that a man is presumed to be innocent till proved guilty.

8. **Survey and Suggestions**—A brief survey of the legislative measures show that legislators have enacted a plethora of legislations to improve the working conditions of women workers, and to uplift the status and image of Indian women. It is a well established fact that although legal process is a part of social process, but it works slowly and gradually in order to bring changes in the society. Without peoples, co-operation nothing can be done. We have to consider women as harmonious part of social life and must develop their initiative in social life and further their participation in every walk of human life. We also realise the need for still more amelioration of their social condition in order to ensure healthy public opinion which finally measures the success of our democracy.

The recommendations of the Joint Committee of the Parliament are very significant for improving the status of the Indian Women. These recommendations are just in the form of suggestions; they are as follows :

1 There should be a legal provision for compulsory registration of marriages.

2 Government should use and employ mass communication media, such as radio, television, newspapers etc. for the creation of social consciousness

3 The School curriculum should insert anti-dowry literature

4 Intercaste marriages should be encouraged by the State as well as by the society
5 There should be restrictions on pre-marriage celebrations such as Sagan, Thaka, Tilak etc
6 There should be restrictions on the number of guests and marriages expenses in decorations
7 There should be greater opportunitiey for jobs for women under the government agencies and reservation of posts for them
8 There should be free Legal Aid to dowry victims
9 Any attempt to prevent a daugheter-in-law from going to her parents home has to be declared as a criminal offence
10 There should be commop civil code for the whole country irrespective of any religion in the matters of marriage, adoption, succession maintenance etc
11 There should be a legal provision that a man convicted under Dowry Prodibition Act will not be eligible for membership of legislature or local body
12 A permanent National Commission for Women should be constituted

In the end, we should have every hope that with the improvement in the social, economic and political status of women in India, there will be a transformation in society and India will again be a pioneer in this direction The women in India are marching towards the path of progress Modern Indian woman free from old bondages stands now on a firm footing

Student Unrest : Causes and Remedies

SYNOPSIS

1. **Introduction.**
2. **Student Unrest in other countries.**
3. **Causes of Student Unrest.**
4. **Remedies for Student Unrest.**
5. **Conclusion.**

1. Introduction—Students' demonstrations have generally become a common talk of the day, but recently it has taken a violent turn It has shocked everyone-the public, the parents, the grvernment, leaders and majority of the students themselves. We cannot be silent specatators to the acts of violence, arson, loot and destruction of public property The fact is that students become tools in the hands of certain selfish, and anti-social elements. The students have some demands and have some grievances for redress. The authorities concerned do not take any timely action on their genuine demands Therefore, the students resort to strikes & other similar actions The anti-social elements take advantage of this opportunity and mix with them. They actually indulge in acts of violence. Police is called upon to maintain law and order. The police becomes the target of public criticism for its excess against innocent students. This vicious circle goes on frqeently and the society is badly paralsed.

2. Students Unrest in other Countries—One cannot ignore the basic fact that the youths of our country get psychological encouragement from their counterparts in other countries. All over the world, whether it is Japan, Vietnam, India, Pakistan, Sudan or Indonesia, indisciplined behaviour on the part of the students is becoming an everyday occursence In Japan, they thwarted all authorities, in Korea and Vietnam they shook the administration and in Indonesia they are pressurising the military regime rgainst the President The increasing influence of the youths in China under the garb of Mao's Red Guards has also awakened a feeling in the minds of the youths that the unbridled youths are the most important steeds on which the riders can ride to gallop the political power

3. Causes of Student Unrest—The real question which arises

indiscipline and unrest amongh the students ' Lack of supervision, want of proper training utter neglect of their emotional demands and sense of frustration may be counted among the factors responsible for the student unrest We can pinpoint the important causes of indiscipline or unrest as follows

1 The uncertainty of the future caused by unemployment of the educated, and the poor economic conditions in the country are largerly responsible for creating a revolting attitude in the minds of the youths who have begun to ridicule the absurdity of learning and the futility of knowledge to satisfy their basic economic needs Youths should, therefore, be handled with effectionate sympathy, since they suffer from the uncertainty of the future and they need tender handling No amount of violence can bring them to discipline, since violence tends to excite violence among the youths and, thus, turn them into reactionaries and, in many cases, outlaws which will not be appreciated by the society

2 The another demoralising factor is the indifference of the teachers towards the students not because they hate the profession or that they are irresponsible, but because they themselves are highly frustrated While addressing the Lok Sabha late Maulana Azad had stated that Patwaris in a village are better respected than a school teacher When the society is not willing to increase the emoluments of the teacher nor it is willing to accord him his due respect, it cannot expect of him to do wonders Parents are also to be blamed for it, because it is they who refuse to give a recognition to this profession Accordingly, the teachers begin to develop an inferiority complex in themselves as a result of which they are hardly in a position to exercise any control on the minds of the students

3 There is over crowding in the educational institutions—colleges as well as the universities The authorities of the colleges or the universities can not provide essential services to them The lack of necessary facilities, there fore, add to this burning problem

4. There is lack of personal relationship between students and the teachers Hence, there is absence of individual attention by the teachers on the students. This leads to growth of materialistic relations between the teacher and the taught, and the spiritual ties get loosened.

5. In India, particularly, the political and governmental pressures in selections, promotions and appointments are also responsible factors for the student unrest. Students are sometimes found talking each other that even if they pass qualifying examination creditably or with merits, they are not going to achieve anything because employments are offered only when they produce cheques or jacks

6 Professor Humayun Kabir maintains that much depends upon the personality of the teacher and if he enjoys a complete command on the subject matter, there will be little chance of indiscipline in his class-room Even if, there be poisonous snakes in the class, he should have the personality of the snake-chamer so as to take them all into discipline.

7 Parents owe a great responsibility for proper up-bringing of their children. But they do not play their part in the character-building of their wards. Unfortunately they get lost in their materialistic world and have no time to deal with the problems of their wards

8. Our maligned system of education also contributes to make a complete confusion The real aims of education viz broadening the intellect, developing the mind and discipline of thinking are relegrated to the background, and the whole system is geared to the passing of examinations where memory rather than understanding and book-knowledge rather than thinking is required

9 Some other reasons like, language problem, frequently changing courses inadequate facilities in the colleges, ill-equipped libraries and laboratories and lack of sufficient research facilities etc have also been responsible for student unrest

4. **Remedies for Student Unrest**—The remedy for the student unrest lies in re[illegible]entation of whole system of education The

students do not have any serious attachment with the academic world because they do not find themselves secured for employment after completion of their career in education This is real cause of their frustration Therefore, the whole system of education should be job-oriented

The educational institutions should be provided with able teachers and sufficient funds The teachers should be well-paid, so that they may not run after malpractices for their material wants Further, courses should be so modified as to create interest in the students for learning The students should be associated with the extra curricular activities National Service Schemes should be introduced in our educational system so that they may develop a sense of nation-building adventure

Whatever may be the causes of student indiscipline or student unrest, as we may call it, there is onething quite certain that there is no time left for delay-tactics It is the crucial problem of the day which demands an immediate answer and which can brook no delay It is now high time to set up a National Commission on Student Unrest which should study the subject in its right perspectives and should lay its hand on all causes, direct or indirect, leading to student agitation and make it mandatory on the part of the educational institutions and concerned Government authorities to implement such measures as may be considered necessary It should also evolve a code of behaviour for the political parties and should have a Tribunal under it to give awards or fines for using students as tools for political or social agitations It must also keep certain curbs on the activities of the students by intensifying the institutions of proctors The proctors should not only keep a check on the moral behaviour of the youths, but should also keep a watch on the social activities of the youth, otherwise they should fall into anti-social and anti-national hands which may in turn mould them into dacoits, outlaws, social rebels or a parcel of frustrated youth

Apart from the aforesaid effective remedies to be made available in our education system, following more steps should be taken to solve the burning problem of the society

1. To develop national character, moral education be included in the syllabus Moral education should be imparted at every level of education, may be at the school education or college education

2. The student problems must be immediately heard instead of sleeping over them until they revolt to violence. Their day-to-day genuine difficulties should be immediately surmounted.

3. A college degree must not be made essential to qualify a young man for entering any field of normal employment, as is the case in may other countries.

4. Necessary steps should be taken to create close relationship and perfect harmony among teachers, parents and the students.

5. Political leaders should understand the wider interest of the nation-building and the character-building of the young generation. They should, therefore, voluntarily keep their hands-off from the educational institutions.

6. Love for hard work and discipline should be inculcated in youth. Students who work hard and also maintains a reasonable degree of discipline should be awarded.

5. **Conclusion**—With the growing unrest among the students, a great source of national strength is being undermined and the nation's well-being is put in jeopardy. Properly trained students are the builders of the nation tomorrow. On the other hand, if the present trend continues, they will pull down the democratic values which our fore-fathers have established after a very long struggle. It is, therefore, imperative that all the social groups; parents, teachers, administrators and politicians should play their part well and help turning our young men and women into great patriots. Parents, on their part, particularly must also co-operate with the educational institutions in enforcing necessary social measures on restraint on the unbriddled youths, and all social institutions in the country must lay emphasis on promotion of healthy outlook among the youths through social propaganda, documentary films and a social environment should be formed for this sacred purpose.

In a comprehensive analysis of the subject, we shall have to take into account the spirit of the age in which we are living, natural potentialities of the youth and the external factors which influence their behaviour.

Prohibition—Its Impact on Indian Society

SYNOPSIS

1. *Introduction*
2. *Historical Perspective*
3. *Drinking as a social evil*
4. *Prohibition—a Social Reform*
5. *Prohibition and Legal Control*
6. *12-Point Minimum Programme*
7. *Conclusion.*

1. **Introduction**—Drinking has been condemned as a great curse for mankind, throughout the ages A nation, addicted to drinking has its future completely *doomed* A Government which collects its revenue by selling alcoholic *drinks to its people* makes prostitution of its sacred function of making people *morally better* and spiritually strong *Indeed, drinking* has all along been the worst *misfortune* that has ever befallen on mankind

2. **Historical Perspective**—Drinking has been condemned by almost all religions Christianity, Budhism, Islam and Hinduism have considered drinking as a sin and, therefore, they have *condemned it* During Ashoka's period, drinking was considered as *a crime*, It is against the preachings of Budhism which was the then ruling religion According to Islam, a drunkard has no place *in Paradise* and that his place would be in the worst part of Hell, where he would be cast into eternal fire of torture He can never expect to be forgiven by God

During Ashoka period of Indian history drinking was considered to be a serious crime, something contrary to the principles of religion, i e. Buddhism During Chandragupta Maurya' regime, the Government strictly supervised the manufacture and sale of intoxicating drinks Similarly, most of the Muslim rulers in India had put complete restriction of sale of intoxicating wines although they themselves lavishly indulged in drinking During the days of the East India Company, India s culture suffered a lot It was during this period particularly that the Government introduced liquor-revenue. All the Indian reformers, condemned drinking *Men* like Raja Ram Mohan Roy, Keshab Chander Sen, Dr Annie

Besant, Tagore, Swami Shardanand condemned the evil of drinking and accused the British Government of committing a public sin.

In other countries too, steps were taken to prohibit use of alcoholic drinks It was first introduced in America in 1923 but due to certain unavoidable reasons it failed Prohibition was experiment in China also, where Government laid much emphasis on banning of opium Indian National Congress, even before independence had made it one of their basic features of programme to lauch a country-wide compign for prohibit on Satyagrahas were offered for the same purpose and our leaders had been imprisoned for picketing wine shops during the British regime At the All India Congress session of 1953 it was resolved that in some states there should be complete prohibition Act of 47 of the Indian Constitution enjoins on the State to endeavour to bring about prohibition of the consumption of intoxicating drinks and drugs. In December 1954, the Prohibition Enquiry Committee was appointed to suggets a programme and machinery for the implementation of the Directive. The Committee recommended that schemes of prohibition be integrated with the country's development plans. This was further affirmed by a resolution in the Lok Sabha on March 31, 1956

3. **Drinking as a Social Evil**—Many crimes are caused under the influence of alcohol or drugs The use of alcohol, in course of time, causes a great and irresistive carving for it. To retain the so-called 'satisfaction' derived from the use of alcohol or drugs, the drunkard goes on increasing the quantities from time to time, Such a state of affair may lead him even to commit theft or fraud to get the same otherwise If he gets drink so heavily that he can not understand the consequence of his acts, he is quite likely to do some harmful act, even an act of homicide. Very often, crimes of violence have been committed in a state of intoxication. Dr. Harly is of the opinion that complete elimination of alcohol and harmful drug habits would cause a reduction in crime by at least 20 per cent. Besides, it will also have cumulative effect on the generation to come, by diminishing poverty, improving home conditions and habits of living and environments and perhaps even an improvement in heredity itself The introduction of prohibition in India actually caused a considerable fall in the number of crimes caused by intoxication There are, however, some people who can not do

without liquor Such persons even go to the extent of making illicit liquor The result is starvation of children at home, assaults and quarrels between husband and wife, between father and child, and other evils resulting from the abuse of alcohol

4. Prohibition - A Social Reform—Prohibiton is a programme of social reform which is based on moral and social values Therefore, mere legislative sanction can not make it a success though it can be enforced with the aid of law To make prohibition a sucess, speical type of moral and social education has to be imparted to the masses Poeple must be morally convinced of the evils of intoxicating drinks The social welfare department of the State Governments and of the municipalities are rendering valuable service in this regard Their social welfare officers impress upon the people suggesting how the use of alcohol is ruinous to them There are lectures on the evils of drugs and drink habit People should be taught to hate intoxicating drinks through a convictoin and mere lip sympathy will not make prohibition a success Prohibition has to be enforced gradually and not all of a sudden People must cooperate with the Government in making prohibition a success in the real sense of the term

5. Prohibition and the Legal Control—The Indian Constitution makes it a fundamental obligation on the part of the State to bring about prohibition of intoxicating drinks Can we hopefully expect the state to bear faith and allegiance to Article 47 of the Indian Constitution which reads as hereunder "The State shall regard the raising of the level of nutrition and the standard of living of its people and the improvement of public health as among its primary duties and in particular, the state shall endeavour to bring about prohibition of the consumption except for medical purpose, of intoxicating drinks and of drugs which are injurious to health."

Legal control over intoxicating liquors has long been recognized as a necessary function to protect society from the evils attached to it Protection of society and not the providing of benefits to the license-holder is the primary objective of such laws and regulations There is no inherent right of a citizen to sell intoxicating liquors It is a business attended with danger to the community and it is recognized everywhere as a subject of regulation

Quite some years ago, Hon'ble Justice Krishna Iyer ex-Justice of the Supreme Court of India delivered a historic and inspiring memorable judgement on the constitutional validity of the legislative measures declaring a break of two "dry" days in every 'wet" week for licensed liquor shops and other institutions in the private sector The Supreme Court held that the regulation of the number of days and duration of the hours when supply of alcohol by licensess shall be stopped is quite reasonable whether it be for two days in a week or even more Thus the Supreme Court favours the policy of the State on prohibition. The State should, therefore, come forward to bring about the total prohibition in the country

The State Governments through legislative measures or as a part of their economic programmes are going ahead either for total or partial prohibition It is quite encouraging to note that Bihar Government have declared total prohibition with effect from April 1, 1979 covering all the destricts of the State. Some states have covered more districts for prohibition Rajasthan, had also declared total prohibition from April 1, 1980 but later on the Govern ment withdrew its policy of total prohibition. The Union Government is providing liberal financial grants to the States for this purpose

Now we have to consider some other aspects of prohibition. Prohibition creates certain difficult problems. The first problem is unemployment In Andhra Pradesh, Bengal and Assam there are lakhs of people engaged in the production of Tari, a kind of intoxicating drink If complete prohibition is introduced in these states, all the workers employed would be thrown out of their source of earning livelihood Another problem is how to check illicit manufacture and sale of intoxicating drinks The report of the All India Prohibition Committee revealed the fact that in most of the 'dry areas' there have been 'flood of illicit wine.' In the city of Bombay alne, illicit wine of the value of fifty lakhs a year had been consumed It is, therefore, necessary that police and excise officials and their staff should discharge their functions most faithfully and honestly

6 **12 Point Minimum Programme**—The Union Government from October 1, 1975, i e the Gandhi Jayanti Day, anonunced a 12 point 'minimum programme" to prepare the ground for intro-

duction of total prohib tion in Inpia The 12 Point Minimum Progr imme is as follows—

1 Discontinue anuance of advertisements and publ c induce ments relating to drink

2 Stoppage of drinking in public places like hotels hostels restaurants and clubs and public recep ons

3 Banning of liquor shops near industrial irrigation and other development projects to keep away the workers from drinking

4 No liquor shops to be allowed along highways and resi dential areas in towns and villages nor anywhere near educational institutions relig ous places and colonies of labourers

5 Pay days in different areas is to be uniformly observed as dry days

6 Strict restrictions to be enforced on motor vehicle drivers and pilots any infringment of rules to be punished with the cancellation of their licences for a sufficiently long period

7 Government servants of all categories including employees of public undertakings to abstain from drinking in public drunkennes while on duty to be severally punished

8 No new liquor shops to be opened in any part of the country merely to earn more excise revenue

9 No licenee for creation of additional capacity or expan sion of the existing capacity for the distillation or brewing of alcoholic drinks to be grant d save in 100 percent export oriented cases

10 The existing legislation is to be tightened up with a view to punishing the guilty more effectively Special mobile police squads to be organised for the purpose where necessary

11 Widespread and concerted propaganda by official as well as non official agencies against the evil of drinking and

12 Leaders of public opin on to set the tone by th ir per onal example

The Government of India on the recommendations of the Central Prohibition Committee has been advocating a number of

measures with a view to reducing the consumption of alcholoic beverages and preparing the ground for the introduction of total prohibition

7. **Conclusion**—Our conclusion, on the subjection of Prohibition, is that the Nation is marching fast towards total prohibition in the country National Seminar on 'Prohibition' has formed five committees to consider various aspects of implementation of the prohibition programme in the country. Gandhiji once said "If I were a dictator of a country for some hours, my first step would be to introduce total prohibition " If the Government implements its scheme on prohibition in a missionary spirit it is bound to succee

---

Abolition of Bonded Labour

1. *Introduction*
2. **Socio-economic conditions of Bonded Labour**
3. **Factors responsible for Bonded Labour**
4. **Legal Control over Bonded Labour**
5. **Indebtedness and Bonded Labour**
6. **Remedies for abolition of Bonded Labour.**
7. **Conclusion.**

1. *Introduction*—Bonded labour system means the system of personal service in repayment of any debt in cash or otherwise. In other words, it is a system of debt bondage under which the debtor agrees to render labour or personal service to the creditor without reasonable wages or with no wages in order to extinguish the debt or exorbitant interest there on. Sometimes, it orginates in pursuance of any customary or social obligation Failure to pay the debt by his own labour force, descendants of the debtor had to work for the lender Sometimes several generations of the bonded labour had to work under bondage to wipe out debt which his ancestor took from the creditor

2. **Socio-economic conditions of Bonded Labour**—During the entire period of bondage, bonded labour had to lead their lives and the lives of their family members as half-human. They had to work for the mighty master under conditions of tyrannical treatment,

untold privation and miseries In return, they are provided with frugal food and dirty clothes The female folk of the debtor are also compelled to undergo many kinds of humiliation for the personal pleasure of the rural lords or urban money-lenders

Bonded labour goes by various names in different states It is known as Halia and Mulias or Nag-nuliyas in Orissa, Nit majoor in Bengal, Harwais and Baramasiyas in North Bihar, Kamia in South Bihar, Harwashee in Madhya Pradesh, Sevak and Haris in Uttar Pradesh, Pannyals in Tamil Nadu, Paletus in Andhra Pradesh, Hali in Gujrat, Sagri in Rajasthan, Jeetha in Karnataka and Sanji in Punjab

It is apparently evident from the above that the bonded labour live in a very miserable condition They have, therefore, not been able to acquire any social status They are almost slaves of the landlords or the money lenders

3. **Factors responsible for Bonded Labour**—Prevalence of this system can be traced in the socio-economic structre of our rural society Caste hierarchy and feudal structure still dominate the rural scene Most of the bonded labour are Harijans and Adivasis having no permanent source of income They had to raise loan for keeping body and soul together Social compulsion such as incurring avoidable expenditure on marriages, death and births, are also the causes of indebtedness Lack of education, helplessness, inferiority complex, religious superstitions, terror of the mighty lord are the factors which make the bonded labour psychologically slave of the extortioner They live in debt and die in debt The tyranny of debt degrades the employees and impairs their efficiency It is one of the principal causes for the low standard of living of workers The workers are generally indebted for the greater part of their working lives

4. **Legal Control over Bonded Labour**—Section 374 of the Indian Penal Code makes any form of forced labour as an offence Similarly, Art 23 (1) of the Indian Constitution prohibits 'begar' and other similar forms of forced labour As the subject of labour is included in the Concurrent List, some States have also passed legislations to deal with the problem ILO Convention concerning forced labour, which forbids involuntary forced labour, has been ratified in our country

Inspite of the legal, Constitutional and International sanctions, this savage and barbarous practice continued to plague 17 out of

22 States and 3 out of 9 Union territoties in India. Looking to the magnitude of the problem and in order to cure the malady before it could become cancerous, the Bonded Labour System (Abolition) Act, 1976 was enacted by the Parliament From the commencement of Act, every bonded labourer shall standfreed and discharged from any obligation. Any custom, tradition, contract, agreement or any other instrument which requires any person to work as a bonded labourer, has been declared to be void and inoperative.

All the bonded labourers have been exempted from the liability to repay any bonded debt. The creditor has been prohibited to accept any payment against debt or to file a suit for the recovery of such amount. The mortgaged property, if any, had also been freed. A freed bonded labour can not be evicted from any homestead or other residential pemises, which he was occupying as part of the consideration for the bonded labour

In order to render appropriate advice to the implementing authorities regarding proper implementation of the Act, there shall be Vigilance Committees at District and sub-Divisional levels under the chairmanship of the District Magistrate with members from various fields. These Vigilance Committees shall also provide for the economic and social rehabilitation of the freed labourer, coordinate the functions of rural banks and cooperative societies with a view to canalising adequate credit facilities, keep an eye on the number of offences of which cognizance has been taken or ought to be taken

The Parliamentary legislation, as stated above, is no doubt a landmark in the history of India. But the pertinent question is whether mere legislation would be able to solve the problem. Past experience has clearly shown that this evil which is deeply rooted in social and economic compulsions, can not be abolished by law *alone.*

5. **Indebtedness and Bonded Labour**—Indebtedness is the mother of this system If economic problems are effectively tackled, some of the social disabilities will also lose their edge, In order to meet their minimum requirements immediately ,after freedom from bondage, some financial help should be given immediately by State agencies recoverable in easy instalments on nominal interest. Temporary employment opportunities should be created to engage them immediately

According to Labour Investigation Committee "Indebtedness may no doubt be due to extravagance, vice, and improvidence, but it would appear that the root cause of the evil is the want of any margin left for meeting expenditure of an unforeseen character" The Committee further observed "in a country like India, custom is not only a king but a tyrant as well The worker has to bear the ocasional expenditure on marriages, funerals festivals and social ceremonies while his income is very limited without having any margin left for meeting expenditure of such unforeseen character" Some other causes of indebtedness are low level of wages, drinking and gambling habits and facility to borrow money

6. Remedies for Abolition of Bonded Labour—As far as long-tern remedies are concerned, surplus cultivable land acquired by the Government should be distributed among them free of cost Agricultural implements should be supplied on subsidized rates Where there are concentrations of such freed labourers in any area, some integrated and intensive rural development programmes should be started providing long tern employment to these persons Wherever possible, the freed labourers should be encouraged to start with cottage and small scale industries, Besides economic rehabilitation, there is a problem of giving these people a social status to lead a life with dignity A major section of the bonded labour comes from Scheduled Casts, Scheduled Tribes and semi-tribes Behaviour pattern of these persons shows apathy which make them slaves We will have to liberate them psychologically also This can be done only by spreading elementary education among them, through the schemes of adult education They should be made conscious of their rights and other governmental measures for their uplift,

Camps to educate freed bonded labour should be organised by the Government, enlightened public opinion needs to be created through Government officials and dedicated grass root social workrs against this savage system Law should be given adequate publicity during village festivals, etc Cooperation of local persons should be solicited to eradicate this system

Strict enforcement of law is also abolutely necessary Implementing authorities should consist of honest, energetic and dedicated officials, who could win the faith of the poor rural masses Law will have real teeth only when implemented impartially and strictly

Strict penalties should be inflicted on creditors, who violates the provisions of the law, in order to create alarm Only by resorting to all these measures simultaneously, the roots of this age-old bondage system can be shakened and gradually uprooted completely for good

7. Conclusion—India is marching from medieval to the modern society Our Constitution takes a pledge to provide for Socio-economic justice and a scheme of welfare state. The ideas enshrined in the Constitution will remain only on the statute and will never be translated in action, unless the vices of the old feudal system in the form of bonded labour etc are completely uprooted from our social system We all have to be conscions about it and choose a right path to iron out this old-age problem because wrong method can never yield right result.

Problem of Environmental Pollution

SYNOPSIS

1. **Introduction**
2. **Historical Aspect**
3. **Causes of Environmental Pollution**
4. **Environment and Environmental Law**
5. **National Environmental Policy : A Review**
6. **Some suggestions for Environmental Protection**
7. **Conclusion.**

1. Introduction—One of the most alarming problems of our time is man's assault on the environment by polluting the air, water and the land This environmental pollution is for the most part irrecoverable Our generation has witnessed enormous economic growth, scientific achievements and technological progress, which, while bringing benefits to many people, have also caused several social and environmental problems There is evidence of increasing degradation of the natural environment in some forms on a world-wide scale

The problem of environmental protection is becoming a matter of great concern not only in India but all over the world

The population density and urbanization have resulted in acute environmental problems Motor vehicles constitute a major source of air pollution Concentration of petro-chemicals, oil refinery and other plants as well as electric power installations which produce large quantities of sulphuric oxides and nitrogen oxides constitutes another major pollution source Stream and rivers have been heavily polluted by emissions from industrial waste and sewage Ground water is endangered by pollution from nitrogeneous fertilizers Noise has become a continuing problem, aggravated by population denssity, location of light industries, workshops and places of entertainments in residential areas, and the proliferation of motor vehicles and air crafts The public coming to enjoy a higher standard of living, had demanded environmental quality and pressed the Government to take effective action

2. **Historical Aspect**—Since the creation of mankind, there has been a conscious or unconscious effort to pollute the atmosphere and despoil the earth Our ancestors were nature worshippers because worship is a form of the greatest admiration for them in nature This healthy approach of man to nature later suffered an eclipse with the growth of population and increasing pressure on natural resources A ruthless exploitation of natural resources created deserts, droughts and now the experiments with atom and the entry of nuclear weapons in the space threaten even the existence of the very atmosphere without which man can not live at all

In the early decades of industrial pollution, industry resisted all efforts at pollution control, as any money spent on pollution control would diminish profit, and capitalist economy was most concerned with profitability But this attitude underwent a change in fifties and sixties Where an industry felt that it could afford to implement pollution controls and still make sufficient profits to maintain expansion, research, etc it was willing to spend money voluntarily on pollution control, but where it was at the cost of the profitability, no voluntary action on pollution control was taken

It is heartening to note that India took note of integrating environment factors into planning during the course of the formulation of its Fourth-Plan (1969-74) at least three years ahead of the United Nations It was in 1972 that the United Nations organized a Conference on the Human Environment in Stockholm Consequent

upon the policy of the Fourth Five Year Plan, a National Committee on Environment Planning and Coordination was set up, as a high advisory body to the Government of India.

On the recommendations of the Tiwari Committee, a separate Union Department of Environment was get up in November 1980 to act as an model agency for environmental projection and eco-development work and to carry out environmental appraisal of development projects. The Department of Enviroment is directly under the charge of the Prime Minister with a deputy Minister in charge of the Department

The past history reveals that man has been struggling continuously to manage his enviroment in order to improve his well-being. The capacity to manage and improve increased tremendoulsy following the industrial and scientific revolutions.

3. **Causes of Environmental Pollution**—Traditionally, we are a pollution loving nation. We pollute air by bursting crackers on **Dussehra**, **Diwali** and on the occasions of marriages and other festivals. We pollute our rivers by disposing of our dead bodies and all other human and other waste. We take out so much wood from our trees for fuel that in many areas trees have become scarce. We are primarily a vegetarian country, but our wild life is on the verge of extinction. We broom out all our household and other waste on the public streets. We are a country which believes in open latrines. Municipalities are oblivious of their duties and all city waste, human and industrial effluents are allowed to flow in open drains and to flood the streets with them. We are equally fond of noise pollution. Gods and godmen's voice must be heard by all, day and night, and our *Ratijagas Akhandpaths* and *Azan* must use loudspeakers and amplifiers; no one should be deprived from hearing God's and Godmen's voice-and gods too are far away beyond the hell and heaven. Our voice must reach them, otherwise our spiritual need will remains unsatisfied. We are no less noisy in our secular matters Our marriage and burial processons must be accompanied by bands, twists and *Bhangras*.

There is a large-scale and consistent cutting of trees and forests in our country, particularly by the people living in the rural and forest areas because there is no alternative provision for giving them fuel The denudation of the green cover of the mountains, of forests, fields and grass lands eliminates the main forces attracting clouds and their condensation. This leads to

decreasing rainfall which is a disaster in any country, particularly an agricultural country like India Urbanization has led to use of rivers for the discharge of sewage Industrialization has also led to the exploitation of the rivers with the result that the rivers have become so heavily infected that it is unsafe not only to drink their waters but even to bathe in them

Industrialization has further aggravated the problem of air pollution The smoke produced by the factories is leading to increase in pollution of the air adding to the pollution already created by vehicles using petrol and diesel Even the sun-shine which is a free gift of nature is threatened by the increasing smoke and other impurities injected in the atmosphere by indiscriminate and uncontrolled use of fuels Vehicles and other loud activities is leading to new kind of pollution which is called noise pollution

The natural environment of man is thus threatened gravely It is high time that man realised this great danger to his very existence and much more to his happiness

4. Environment and Environmental Law—As noted earlier, the Union Government has taken keen interest both at international and national levels, in underlining the need for integrating environmental factors into the process of planned economic development Our Prime Minister, Mrs Indira Gandhi has time and again, stressed that aforestation, flood control, soil conservation preservation of flora and fauna, proper land use planning, water and air pollution controls, and judicious location of industries must be undertaken urgently

Probably, ours is the only national Constitution which contains a specific provission for the protection of the environment The 42nd Constitutional Amendment has inserted Article 48-A in the Indian Constitution, which reads as follows The State shall endeavour to protect and improve the environment and to safeguard the forests and wild life of the country In addition to Article 48-A, Article 47 provided for the improvement of public health as one of the obligations imposed on the State

Our Constitution also lays down the fundamental duty of very citizen 'to protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wild life and to have compassion or living creatures ' These Provisions are wide enough to empower the Government to do all that is necessary to do by legislative nd administrative action to protect human environment The use

of the world 'environment' indicates width of the power assigned to the State It means aggregate of all the external conditions and influence affecting life and development of human being, animal and plants, including various external factors, such as air climate, culture, water noise, temperature, soil, etc. which affect the health and development of life The State is empowered not only to adopt a policy for the protection of environment but also to take effective steps to improve polluted environment and to prevent pollution of environment In furtherance of this objective, the State can take measures to lay down restrictions on the use of factors adversely affecting the environment

There are more than 200 Central or State enactments which have a direct or indirect bearing on environmental protection. These enactments are being reviewed, where necessary, on a continuing basis for taking necessary action. In recent years, we have also enacted important environmental legislation covering such areas as water pollution, wild life, forests, antiquities and monuments, urban land, insecticides and radiation. Our Parliament has realeased in Acts namely The Water (Prevention and Control of Pollution) Act, 1981 and Air (Prevention and Control of Pollution) Act, 1981. Several other statutes on the subject are : Insecticides Act, 1968, Wild Life Protection Act, 1974, Water Pollution Act, 1977, Forest (Conservation Act) 1980 etc. India is one of the few countries which has antipollution and protection of environment law existing even in the first half of the twentieth century. The Indian Penal Code contains several provisions which make pollution a crime Thus Section 277 relates to water pollution, Section 278 to pollution of air, Section 426, 439, 431, and 432 deal with general pollution. Section 268 deals with public nuisance under which noise pollution can be controlled. The Code of Criminal Procedure, 1973 also deals with matters like nuisance. Noise, air and visual pollution can be controlled under the Motor Vehicles Act, 1939 Several States have their own laws for regulating pollution

5. **National Environment Policy—A Review**—As Stated above, India is one of the few countries of the world that have made specific reference in the Constitution to the need for environmental protection and improvement. The United Nations Conference on Human Environment held at Stockholm in June, 1972 provided impetus for the Centre Government to establish a

National Committee on Environment Planning and Coordination to act as a high level advisory body to the Government On January 23, 1980, the President of India in his address to the first joint session of the Seventh Parliament expressed the need for setting up a specialized machinery with adequate powers to maintain 'ecological balance' A major debate was initiated on August 11 1980 in the Lok Sabha on the subject Rape of the Earth' Several members representing several political parties voiced deep concern in regard to environmental deterioration The Prime Minister Mrs Indira Gandhi herself spoke to clarify various aspects of Government policy on the Environment Protection The overriding concern for ecological balance has been emphasized in the National Policy for Socio economic Development

A full chapter namely Environment' in the Sixth Plan (1980–85) has been devoted to the discussion of the problems of environmental degradation This chapter provides a guidance and implementing development programmes and projects taking into consideration environmental aspects and lays down an institutional arrangement for environmental administration at the Centre and States level The Plan therefore provides a good basis for improving protecting the environment

6 **Some Suggestions for Environmental Protection '**—The first and the foremost suggestion on the subject is that the people must be made aware of the problem of environmental pollution by making it an election issue This was specially important at the village and corporate level where air and water pollution was a perceived reality Once public awareness develops, industries would no longer flout the laws on the pollution

The increasing population makes excessive demands on the soil leading to deforestation and over grazing of grasslands The challenge before environmentalists and policy makers is to protect nature from human depreciation This will be effective only if it is linked to population growth control

It is the need of the hour that individual municipalities should be funded for specific projects There should be separate budgets for Water Supply and Water treatment, otherwise funds for water treatment would be diverted for water supply The Life Insurance Corporation could also give soft loans to municipalities with sanitation programmes

The essence of law lies in its spirit and not in its letter because the letter is significant only as being the external manifestation of the intention that underline it So the purpose for which pollution control laws have been enacted ought to be considered and there is a need of a New Jurisprudence best suited for environmental protection.

The importance of teaching a course on environmental law at least in the industrial townships shound be appreciated by all concerned Whileitis easy to devise a suitable legal structure for the purpose, it is difficult to implement and enforce the law in an area as sensitive as this To ensure full implementation and effective enforcement of the pollution control, it is necesary to impart meaningful and worthwhile education of the subject so as to train a cadre of personnel fully aware of the dynamics of law in this area.

It is being increasingly realised that it is one of those areas where mere enacting a piece of legislation is not enough unless the enactment of a legislation of this type is preced by a strong public opinion creating an all round awareness of the role and purpose of a particular measure, the law will simply remain a dead letter on the statute book.

It is suggested that the Department of Environment should lay down permissible limits of different type of industries for prevention and control of pollution. All State Boards on Pollution control should ask the industries to install pollution-abatement equipment. Those flouting these instruction should be prosecuted and convicted harshly.

Public awareness is the best safeguard against pollution and the media; parliament and voluntary agencies must continue their efforts to educate the public in these matters.

A committee should be appointed to look into the question of introducing environmental issues into school and University curricula. Lastly, the State should recognize that it is a Fundamental Human Right of each person to enjoy a healthful environment

Conclusion :—As mentioned earlier, it may be stressed again that the enactment of a Code is not the ultimate sollution to this multi-dimentional problem of environmental control but, much

would depend on those who are entrusted with the task of implementing the provisions of such legislation. The most effective check to overcome these problems, appears to be an awakened public opinion which can, to a very great extent, bridge the implemetation gap and take such officials to task who do not perform their duties towards the public at large This whole problem has to be viewed seriously because the environment as such affects the very existence of human-beings on earth which is one for all.

Legal Education : New Perspective

SYNPSIS

1 Introduction
2 Objectives of Legal Education
3 Methods of Law Teaching
4 Tutorials
5 Seminars
6 Clinical Legal Education and Legal Aid to the Poor
7 Some problems of Legal Education in Rajasthan
8 New Five Year Whole time Course
9 Conclusion

1. Introduction —A need has been felt for a long time to overhaul the system of legal education in India and to re-orient it in the light of the changed socio-economic context but little effort has so far been made in this direction The distinguished judges, eminent jurists, professional and academic lawyers, and many other concerned authorities have concentrated their mind to the problem of legal education in India and are now willing to engage themselves in this persuit Thss is quite a satisfactory and encouraging attitude and we should all think over the problem quite afresh

2 Objectives of Legal Education —A study of educational programme, curricula, its contents and technique of instructions

presupposes two basic things. Objectives of legal education and the duration of its study in various courses.

The present system of legal education in India is what the Britishers created when law was recognized as the weapon of social order i.e. to preserve and continue the then existing socio-political structure rather than an important instrument of social change. The class of judicial authorities; lawyers and the law teachers was naturally unconcerned with the policy-formulation. In this context, the function of the law college was only to impart information regarding the rules of law in certain basic subjects irrespective of their social significance, purpose or policy. With the achievement of Independence on August 15th 1947 and the commencement of the new Constitution on January 26th, 1950, the then system of legal education became incapable of playing any useful role in the changed set of circumstances. The social objective enshrined in the Constitution is the establishment of an egalitarian society based on Socialistic pattern. This casts heavy responsibility on the lawyers who are expected to bring about social *transoformation*. *It is* the responsibility of the legal education to produce lawyers who will be able to minimize the frictions in the process. In essence, a *training in scientific thinking will have to be imparted to the* law students who are to take law as a means of planned implementation of policy.

Emphasizding the need for change in the objectives of legal education, Chief Justice Gajendragadkar (as he then was) observed in his inaugural address to the Kasauli Seminar on Legal Education. "In a democratic country, which is dedicated to the cause of establishing socio-economic justice, law ceases to be *merely* a command of the legislature. Law becomes a dynamic weapon in the armory of democracy to achieve its objective of reaching the ideal of a welfare State. As soon as law ceases to be merely a command of the monarch or of the legislature and assumes the role of a flexible instrument intended to serve the cause of socio-economic justice, it follows that the study and the teaching of law must also change their complexion."

The above observation of the learned Chief Justice leads us to follow that law touches human life at more points-than one. The study of law thus ought to be associated with the study of some of the social sciences. Hence, the study of subjects like

History, Economics, Sociology Political Science etc Should be included in some of the law courses either simultaneously with the law subjects or separately by devoting a year or so A combination of the study of law and social sciences is bound to make him a successful lawyer

3 **Methods of Law Teaching**—There are two predominant methods of law teaching, the first method of law-teaching is the case-method and is employed in the United States of America The other method of law-teaching is the famous lecture-method operating in England and many other countries Both these methods have produced fruitful results in the respective countries Their suitability in Indian situation deserves some consideration In the case-method of teaching, the teacher does not explain the principles of law or various legal concepts The teacher straightaway puts questions to the students The students express their views freely and no views are forced upon them The teacher also expresses his views whenever necessary The American Law Schools regard the case-method teaching very useful in training law students for professional career

In the lecture method of teaching, usually the teacher does not put questions to the students The teacher delivers the lecture on a specified subject and the students accept each word as it comes from his tongue Thus there is no student participation in this process This leaves the student to take law study very lightly The criticism of the lecture method need not lead us to the conclusion that formal lectures are of no value Rather a unanimous opinion is in favour of this method The Law Commission and the all-India Law Teachers Conference held at its Delhi Sescsion have recommended the retention of lecture method

The Universities, Government Colleges and private Colleges imparting legal education in India at present follow the lecture-method We have some basic problems which do not permit us to import case-method of teaching in our system of legal education We don't have trained personnel and legal literature which are pre-requisites for the introduction of case-method of teaching Therefore, in the present context, lecture method may continue for imparting legal education in India However, the existing lecture-method by itself is totally insufficient and has to be modified and supplemented by other techniques In English Universities, tutorials,

group discussions, seminars, supervisions etc. Occupy no less an important position. It is, therefore, suggested that lecture method by supplemented by properly drawn-up schemes of tutorials and seminars.

4. **Tutorials** –The main purpose of tutorials is to provide individualized attention to the students. Moreover, tutorials make up the deficiency of the lecture-method. In tutorials, a teacher aims at removing the difficulties of the students e.g. to guide him where to find law on a given subject and to cultivate a habit in the student to study more and more case-laws from A.I.R. and other suggested journals. Home-assignments are also given by the teachers. When the students bring back the home assignments, it is the duty of the teachers to point out deficiencies in expression, matter, style, language etc.

5 **Seminars**—Law can be understood more merely through reading process, but a student can learn law more effectively through discussion. The purpose of holding seminars is, therefore, to develop the critical faculty of the students through discussions. The Law Schools should organize weekly seminars of one hour duration in every subject. The class teacher should announce a topic for seminar well in advance. The outlines of the subject and reading material should be cyclostyled and distributed to the studednts should be asked to prepare the subject from both the angles. The papers prepared by the students should also be circulated among all the students. The students should argue in support of their viewpoints. The class teacher and one senior teacher should be associated with the working of these seminars. The teachers should control and guide the discussions, help students to build up arguments, point out the weaknesses of some uncalled for discussions, tell the students, the socio-economic consequences which would come out of the discussion. The teacher should also, at the end of the discussion, express his views with reasons.

The legal education in all the Universities, Government as well as private colleges has so for been taken up on *part-time* basis. In Rajasthan as well as in other parts of the country, the legal education is imparted either in the morning hours or in the evening hours. We, therefore, putforth the following suggestions for introducing these activities in the form of practical training in the curricula :

(i) Where law classes are held in the morning session there should be practical training of one hour duration in the evening

(ii) Similarly where law classes are held in the evening hours there should be practical training of one hour duration in the morning session

6. Clinical Legal Education and the Legal Aid to the Poor—Clinical Legal education is a term which denotes the involvement of the students in the representation of actual clients as part of their legal education Thus the term encompasses students legal and clinics and traditional apprenticeships Broadly speaking the term includes methods of instructions which emphasize the learning of 'practical skills' in addition to the knowledge of substantive and procedural laws Therefore the holding of moot courts courses in trial of cases and course in legal drafting are all covered within the term Clinical Legal Education'

In Rajasthan for the last 15 years the study of law has been taken up in two parts i e LL B (Academic) and LL B (Professional) courses LL B (Academic) Degree is conferred on the students who have successfully undergons two years learning of various substantive laws The students thus on completing this Course attains adequate knowledge in the field of laws The scheme of LL B (Professional) includes practically all the procedural subjects Clinical Legal Education can be successfully introduced in this course The students should be asked to go to the world of lawyers judges and prisoners The students should then know carefully the problems which a lawyer has to face in dealing with the litigantes

Above all, adequate supervision is an essential element to *the success of clinical legal eduction The whole time law teachers* who have spent two years in cl^ association with the students should take up this burden on them most willingly They should go to various courts of law and lawyers chambers and seriously watch the activeness or inactiveness of the individual students Thus the scheme of clinical Legal Education presupposes the provision of assessment mechanism to evaluate the mental faculty of the students The teachers group of lawers and the judicial authorities in whose contacts the students usually come should sit

together and assess the work submitted by them on the basis of certain case-studies.

The services of the students and the law teachers who are associated with the clinical legal education can be utilized for the purposes of Legal Aid to the Poors, a concept which has recently been evolved by the social and political thinkers of our country and has rapidly emerged as a consequence of 20-Point Economic Programme of our leader–Mrs. Indira Gandhi and insertion of Article 39-A in Chapter IV of the Constitution by the Forty-Second (Constitution Amendment) Act, 1976 which provides for equal justice and free legal aid to the poor. The students having their involvement in the Clinical Legal Education should go to the weaker sections of the society more particularly in the village community, find out the problems with which they are affected and should give it a serious thought whether courts of law can help them in the sollution of their problems. These cases should then be brought to the notice of various Legal Aid Committees set up by the State Government. Then the students should take up the cause of such clients under the able guidance of their teachers, lawyers and judicial authorities as proposeed under the scheme of Clinical Legal Education. That way, the system of Clinical Legal Education can take a step-forward towards the sacred ideas of Chief Justice Gaiendragadkar expressed by him in his inaugural address at the all India Seminar on Legal Education at Kasauli; "If all of us realize the significance of the function of law in a democratic State, we would recognize our obligation to the society at large, because service of law is, on the ultimate analysis, service of society itself."

To render necessary help in the legal Aid Programme, Students Legal Services Clinics should be introduced wherever Law colleges exist. In Rajasthan, such clinics are working in the various Universities as well as Government and private colleges. Recently, a Legal Aid Service centre has been set up in the campus of the University of Rajasthan under the auspices of the University school of Law It is high time when the authorities should take steps to attach Students Legal Aid Service clinics with the department of law of all the Universities. Government as well as the private colleges on the lines suggested above.

7 **Some problems of Legal Education in Rajasthan**—Rajasthan is imparting legal education within its territorial limits through various educational institutions Three Universities of Rajasthan, namely University of Rajasthan University of Jodhpur and Sukhadia University Udaipur are imarting legal education Besides, several Government and private colleges partly sponsored by public funds are engaged in this sacred task

The Law Faculty of each college is like other departments of the College The general administration of the faculty is looked after by the Principal of the College concerned The Dirctor of College Education Rajasthan having his headquarters at Jaipur is the ultimate administrative authority and is responsible for the future progress and development of these institutions and for the improvement of legal education in Rajasthan Whereas the standard of legal education at the University level is to a considerable extent satisfactory a lot has to be done for the Government as well as the private colleges to improve the standard of legal education in Rajasthan The following are some of the suggestions to which attention of the authorities is needed urgently

1. Shelves of the libraries having law books are not keeping pace with the requirements of the present legal education A well-equipped library is an essential aspect for maintaining the desired standard of legal education It is therefore suggested that effort should be made for the formation of a Central Purchase Commitee for effective and proper purchase of law books and general administration of the law libraries The quantity and varieties of books and journals can vary depending upon the strength of the students specialization in various Diploma courses and requirements of LL M students

2 The Law Faculties of various colleges are understaffed This puts the single whole time teacher in a difficult situation It is needless to say that one post of permanent and regular Head of he Department for each Law Faculty should be created This will enable the Law Faculty to keep pace with other departments of a Government college In this context the Bar Council Resolution directing the State Governments to start independent law colleges having independent principals is very purposeful and should be given a working shape

3. There has been a general feature in these years that studies in the Faculty of Law start very late from the beginning of the general academic session. This does not find favour with the students. Rather it creates problems when the minds of the students are not employed in regular studies. It is, therefore, submitted that students mental faculty should be engaged in the wide perspectives of legal education once they take admission.

4. Law teachers play very important role in the standardization of legal education of any country. Unfortunately, law teachers are looked down in this country. The whole-time law teachers of the Universities as well as the Government and private colleges should have a voice in the re-organization of legal education in Rajasthan. The State Bar Council and all the Universities of Rajasthan are advised to give the teachers their due place in any machinery that may be set up for the reorganization of legal education in the State.

8. New Five-year Whole-time Course—A few years ago, the Bar Council of India had evolved a new scheme for imparting Legal education at the graduation level. This is known as five year whole-time course. The out line of the five-year course is as follows. The students who have passed I-year of the three years Degree course or who have cleared 10+2 newly born education scheme are entitled to seek admission in I-year law (new scheme). Such students will be given admission in order of merit. The five-year course is divided in two parts. In the first part, which comprise of two years, subjects like Economics, History, Political Science, English Language and fundamental Principles of law will be thoroughly taught. On successful completion of part I of the five-year course, students will be admitted in the latter part of the course, which will comprise of three years. On passing the Ist degree of law-course, students will be entitled to appear in various competitive examination, like RAS, RTS, IAS etc. In the latter part of the five-year course, in addition to the existing course, studies of some new subjects have also been added. These subjects are : urban land ceiling, local Acts, like Municipal Act, Gram Panchayat Act, law of co-operation, law on Ecomomic offences, etc. It is, therefore, evident that new scheme of five-year law course is more purposeful. It is hoped that the new five-year course will produce the quality of lawyers, judges,

judicial authorities and law-teachers then only we will be able to serve the human society in a more purposeful and effective manner.

9 Conclusion—There may be some drawbacks and deficiencies in the present system of legal education, but there appears at present no better alternative except for the reorientation of legal education as suggested above Tutorials seminars moot courts clinical legal education and students involvement in the legal aid services to the poor will certainly improve the present deteriorating state of affairs The establishment of legel clinics in the law schools and the recognition of this institution by the universities would be a great contribution to legal education This institution would improve the quality of legal education in the country and at the same time it will also provide service to the community

---

Workers' Participation in Management

SYNOPSIS

1 Introduction
2 Participation at the Shop-Councils
3 Duties of the Shop Councils
4 Participation at the Joint Councils.
5. Composition of Shop or Joint Council
6 Workers Sector a New Formula
7 Workers' Participation-a New Approacch in Labour Relations
8 National Apex Body
9 Participation Style
10 Conclusion

1 Introduction—The time has come to give a definite content and form to the concept of workers' participation The leading role of the working class in the context of the present situation acquires significance in relation to the objective of securing closer association of the workers with the whole range of activities concerning production It is our endeavour to create mechanism to

secure meaningful and purposeful association. This fact is the substance of participation. The main objective is to generate a commitment to the vital tasks of production. This can come about when the worker shares the responsibilities for decisions that affect directly the enterprise in which they work and indirectly the economy as a whole. Appropriate institutional framework for such an effective participation at various levels at the shop floor and at the board level is being evolved.

The time has come in India for a bold experiment in labour-management relations in the context of the industrial system and the running of industry. The association should be real and effective and not formal and superficial. There is no harm in starting with the assumption that there is a measure of basic conflict between labour and management and that attempts should be made to remove it and to bring the parties together for a common purpose. It is with this view and also with a view to directing the talent and efficiency of management and labour towards a common purpose that worker's representative should be associated with management at all levels in the running of a factory. This association of labour with management at all levels would lead to :

1. Promotion of increased production for the general benefit of the enterprise and the community;
2. Giving employees a better understanding of their role and importance in the working of industry and the process of production, and
3. Satisfaction of the urge for self expression in the employees which would lead to industrial peace and better relations and increased co-operation.

2. Participation at the Shop-Councils—The New Economic Programme's objective is to increase all round production and to this end the scheme of workers participation in management is one of the principal means on the success of which depends industrial production. In the first instance the scheme is to be introduced at the shop floor levels and production levels in manufacturing and mining industries with 500 workers or more on their rolls. It is to be implemented with the establishment of shop councils on the following basis :

1 The employer shall constitute a shop council for each department or shop or one council for more than one number of workman employed in different departments or shops

2 (a) Each council shall consist of an equal number of representatives of employers and workers, (b) the emplo yers consist of persons from the units concerned, (c) all the representatives of workmen shall be from among the workers actually engaged in the department or the shop concerned

3. The employer shall decide in consultation with the recognised unions or various registered trade union with workers as the case may be

4 The number of members of each council may be determined by the employer in consultation with the registered union or workers

5 All the decisions of a shop council shall be on the basis of a consensus and not by a process of voting

6 Every decision of a shop council shall be implemented by the parties concerned within one month unless otherwise stated in the decision itself and the compliance report shall be submitted to the council

7 The shop council once formed shall function for two years

8 The council shall meet as frequently as is necessary and at least once in a month,

9 The chairman of the shop council shall be a nominee of the management The worker members of the council shall elect a vice chairman from among themselves

3 Duties of the Shop Councils—The Shop Councils should attend to the following matters, in the interest of increasing production, productivity and overall efficiency of the shop/department

1. Assist management in achieving production targets

2 Improve production, productivity and efficiency including elimination of wastage and optimum utilisation of machine capacity and manpower;

3 specifically identify areas of low productivity and take necessary corrective steps

4. Study absenteeism in the shops, departments and recommend steps to reduce them;
5. Should take safety measures;
6. Assist in maintaining general discipline in the shop or department;
7. Ensure physical conditions of working such as lighting, ventilation, noise, dust etc;
8. Look for welfare and health measures to be adopted for efficient running of the shop or department, and
9. Ensure proper flow of adequate two-way communications between the management and the workers, particularly on matters relating to production figures, production schedules and progress in achieving the targets.

4. **Participation at the Joint Councils**—In every industrial unit employing 500 or more workers, there shall be joint council for the whole unit. The main features of the scheme of the joint council should be as follows :

1. Only such persons who are actually engaged in the unit shall be members of the joint council;
2. The Council shall function for two years;
3. The Chief Executive of the unit shall be the Chairman of the Joint Council. There shall be a Vice-Chairman who will be nominated worker member.
4. The Joint Council shall appoint one of the members of the council as its Secretary;
5. The Joint Council shall meet at least once in a quarter.
6. Every decision of the joint council shall be on the basis of consensus and not by a process of voting and shall be binding on employers and workmen and shall be implemented within one month unless otherwise stated in the decision itself.

The functions of the joint council are :

1. Optimum production, efficiency and fixation of productivity norms of man and machine for the unit as a whole;
2. Functions of a shop council which have a bearing on another shop or the unit as a whole;
3. Matters emanating from shop councils which remain unresolved.

4 Matters concerning the unit or the plant as a whole,
5 The development of skills of workmen and adequate facilities for training,
6 The preparation of schedules of working hours and of holidays
7 Awarding of rewards for valuable and creative suggest ions received from workers
8 Optimum use of new materials and quality of finished products and
9 General health welfare and safety measures for the unit of the plant

5 **Composition of Shop or Joi t Council**—Under the aforesaid scheme of worker s participation there is a considerable *diversity in situation prevailing from* unit to *unit in different* industries, and hence there is no hard and fast rule about its composition No uniform pattern is laid down for the constitution of shop or joint council more particularly relating to representation for workers The manager in consultation with workers should evolve the most suitable pattern of representation as proper representation of the workers results effective meaningful and broad based pattern of workers Likewise there should be an effective two way communication and exchange of information between the management and workers The works committees as prescribed under the Industrial Disputes Act remain unaffected Thus the scheme is inextricably bound up with economic and social philosophy that underlines 20-point Economic Programme This new programme constitutes a significant step in the social transformation of our economic order by eliminating the obslete economic structures and reconstruction of our economy on a rational basis

6 **Workers Sector a New Formula**—While the scheme of worker's participation in management provides for economic democracy by way of participation of labour right from shop floor to the board of directors it has been further extended from workers participation from the shop floor level to the level of industrial ownership of workers This new idea of workers sector although appears to be idealistic in India is a reality in Sweden West Germany and Yugoslavia and needs serious consideration for its realistic appraisal for India Indeed this idea has been in existence in Gandiji s concept of co trusteeship wherein the industrialist is

merely a trustee on behalf of the community. Workers sector, therefore, can be said to be more progressive and forward looking concept than the theory of co-trusteeship in the sense that the former invests the industrial worker with the real and full responsibilities of management such as production, thrift, discipline and overalls ownership conscious The lobour according to this philosophy, not only employees his labour but also in vests his capital by being a share-holder in the industry. The experiment of workers as Shareholders is heing tried in many public sector industries with encouraging results.

7. Workers Participation. A New approach in Labour Relations—The 20-point economic programme for labour has generated a new era in India's labour management relations. The total dependence of labour on government for labour, welfare measures is being gradually given up, to establish new industrial relations on the basis of efficiency, production, productivity and equal participation in the increase of wealth and its mutual sharing for maintaining industrial harmony.

The setting up of shop council and joint councils at the shop plant-level will facilitate better communication and regular meetings between the representatives of the workers and management for resolving concreete mutual problems will help in reducing labour turnover, help in increasing labour efficiency for obtaining optimum production with minimum wastage, promote labour welfare etc, leading to the establisment of cordial atmosphere in the plant. Moveover this process would re-establish the bridge of understanding between labour, and management which in turn will create mutual confidence and greater involvement of workers in the day-to-day affairs of the industry. Both the parties would feel a sense of mutual commitment and accountability towards each other. The true industrial democracy and autonomy in labour-managemnt relations can be really very helpful if the management is prepared to translate the spirit behind the philosophy of joint councils. They contribution in moking this experiment a success in the past has been hole-hearted. For this sacred purpose, the management should introduce training programmes, encourage workers' education, and implement the welefare and social security schemes. The management should correlate productivity with sharing of profits necsssary for reposing confidence in the

workers For implementing 20-point economic programme, it is rather essential for the management to create an atmosphere for industrial peace and harmony which is necessary for Socio economic betterment of the weaker sections of society If the workers are called upon for hard work, the employees are equally required to a greater sense of sacrifice and respect for the workers

8 **National Apex Body**—Another significant step for bringing labour and management at a common forum has been the estab lishment of a tripartite National Apex Body to deal with problems of industsial relations in the private sector The underlying idea behind the National Apex Body is to create and promote an atmosphere of mutual good will, co operation and to dispense with any unilateral industrial action by the employers or workers The Apex Body consists of equal number of representatives of INTUC AITUC and one representative of Hindustan Mazdoor Sabha. Likewise an equal number of representatives of Employers Federation of India, All India Employers Organisation and two representatives of All India Manufacturers' Organisation are represented in it This body is to discuss and give guidelines on all issues affecting production capacity and production in different industries and plants, sort out weaknesses and suggest changes wherever necessary Issues concerning workers are also to be brought and resolved in it

It seems the foundation of the National Apex Body is an improvement on the existing tripartism wherein the attempt is to bring about a consensus on important matters The latter can be and has been ignored on several occasions by the Government in taking a policy decision on labour matters

9 **Participation Style**—It has to be born in mind that *attainment of higher productivity and the attempt to* get more out of men would be successful only when there is close co-operation and understanding between the various groups involved be they workers, employers, management or trade unions

In order to implement a meaningful productivity policy there has to be attitudinal changes on the part of employees and managers Days are now gone when management pre-occupied with the object of maximising profits could afford to ignore or fail to properly understand and appreciate the motivations and

aspirations of the workers, and particulary, the need to achieve satisfaction and sense of pride in his job. Today labour management relations should be based on equality of understanding and mutual respect for each other.

10 **Conclusion**—In the end, we can conclude that the democracy is not just a matter of everyone recording a vote or attending meetings Its essence has been distilled in three affirmation that each individual counts and has a life to live; that each may contribute in determining policy and those controlling policy should be sensitive to the views of all, and that out of conflicting opinions a decision can be reached by discussion. Applied to industrial production, democracy demands, in particular, more of two way traffic in discussion, orders and explanation going along the rank while *imformation, grievance and opinion come* back by some agreed procedure so that the individual worker may feel that he counts. In this way he will learn not only to identify himself with the whole organisation and its interest in efficiency but to participate.

Independence of Judiciary

SYNOPSIS

1 Introduction
2 Why India need independent Judiciary
3 Comparative Aspect of Judicial Systems
4 Indian Judiciary—Independent or Committed ?
5 Independence of Judiciary—How Maintained under the Constitution
6 Conclusion

1 Introduction

Judiciary is the backbone of a modern political society It is rathar the corner stone of a democratic system of government Indian Judiciary is playing a significant role to achieve the goles of democracy This may be said to be the very foundation or the soul of democracy Judiciary is that part of the autharity of a nation which is entrusted with the task of enforcing observance of the laws of the land In other words Judiciary protects the right and liberties of each and every citizen of the nation There fore the institution of Judiciary must be impiartial and should be in a position to ensure justice to the citizens, it must be independent in its operation, free from pressures of any kind In the words of Justice Holmes Heavens may fall, but my judgment will speak for all times to come

2 Why India needs independent Judiciary

In India, the major part of its population is illiterate Citizens are not capable of defending their democratice rights, rather they are unware of them Under the circumstences, it is essential that there must be some independent and imparial institution capable of protecting the individuals against state atrocities If the judges are chosen for appreciation of governmental policies and their willingness to give judicial support to them, who will protect the individual from the tyrany of the State

Moreover, in a democratice pattern of society like ours the Judiciary assumes greater importance Political authority is accust omed to all possible misconducts and malpractices, but it is the duty of the judiciary to set right all imbalances or irregularities for the common cause of the people

In India, if the Judiciary has to function efficiently and true

to its purpose, it should be free from any pressure from the ruling party. In India, when for a longer time one political party rules over the citizens, it is quite possible that the ruling party may attempt to influence the Judiciary to promote their own interests. Such a situation can not and must not exist in Indian democracy, where the norms of justice and equality enjoy a position of high esteem.

3 Comparative Aspect of Judicial Systems

In many countries, Judiciary instead of being independent, it is rather *committed either to the philosophy of the Government* or the party in power. To give an illustration, we can cite the case of communist countries. In those countries, the sacred cause before the State or *the Judicial system as a whale is to provide a plan for* socio-economic justice for the people on a uniform patern. Therefore, judiciary is expected to be committed to certain ideologies. In *many other countries, supremacy and independence of Judiciary is* undisputed. To prove this we have such glaring examples like the watergate scandal where an impartial judiciary alone played the *vital role in bringing to book even the person at the help of affairs* of such an affluent nation as United State of America and initiate impeachment proceedings against him for violation of laws and *misuse of power to promote his interest. The American Judiciary* thus proved its supremacy over legislature and established its independence.

In our country too, we have the *famous* Allahabad High Court judgement. This judgement is the symbol of the independent judiciary, which declared the election of Mrs. Indira Gandhi as *illegal disqualifying her faom* contesting any election for the next six years.

4 Indian Judiciary–Independent or Committed ?

The question of an independent or committed judiciary came for the first time in Indian polity, with the suppression of three Supreme Court Judges in the process of appointing Chief Justice Ray *to be the highest judicial office in the land. It came to* be realized that this simple act by the Union Government involved some very basic and important issues-whether the Parliament or the Judiciary is supreme and whether *the Indian judiciary* needs independent or committed judges.

Theoretically, Parliament should enjoy absolute supremacy since it consists of the elected representatives of the people, whereas the judiciary consists of judges either selected through competitive examinations or picked up from among eminent lawyers However, in India, the system of checks and balances in built into a parliamentary system have not functioned successfully because of the lack of an effective opposition and an educated, politically aware and well-informed electorate Consequently, some institution is needed to protect the individual against governmental depeedations On the other hand, it is argued that government's progressive policies may often be obstructed and even negated by judiciary which guides itself by precedents alone If the judiciary is granted supremacy, the nation's future in effect would pass into a few hands, but such a nation is admissible only if we assume the judiciary to be indifferent to the needs of the day Besides if a single party rules for a very long time, thr seeds of totalitarianism are sown

For India, an independent judiciary is essential, as is clear from the discussion about the supercessionl In this case, the recommendations of the Law Commission were ignored, merit neglected, the question of length of tenutre deliberately misrepresented, and other spacious arguments advanced to support government action Unfortunately, the first obstacle in the way of an independent judiciary is the Constitutional principale that the president himself chooses the Chief Justice, whose choice is nothing but the choice of the Union Cabinet headed by the Prime Minister of India.

Indian Judiciary, before the 42nd Constitutional Amendment, enjoyed its supremacy To promote the vested interest and political interests, the indian Constitution was amended in 1976 in such a way that the Judiciary lost its image of independence and the Parliament became supreme Therefore Indian Judiciary can not be said to have an independent existence, when viewed from different angles Though there are certain instances, where Justice triumphed due to an impartial judiciary, numerous cases can still be quoted where the Judiciary did not act impartially Serious malpractices were resorted to by the Union and the State Excutives in the appointment of Judges thereby demoralising the entire judicial system in the country

5. Independence of Jvdiciary-How maintained under the Indian Constitution

The framers of the Indian Constitution were quite aware that civil liberties were meaningless in the abence of an independent machinery to safeguard them. State actions could not be trusted to be just and imartial in judging the merits of a conflict in which the Government itself was a party. Similarly, a judiciary subordinate either to the Centre or the States could not be trusted as an impartial arbter of conflicts and controversies between the Centre and the States These were the compelling reasons for the creation of an indepeudent judiciary as an integral part of the Constitution and for the adoption of judicial independence as a basic principle of the Constitution.

In its effort to establish complete independence of the judiciary, our Constitution first erected a wall of separation between the executive and the judiciary. Art. 50 directs the State to take steps to separate the judiciary from the executive in the public services of the State. It emphasises the need of securing the judiciary from interference by the executive.

After affecting such separation, our Constitution created conditions that are conducive to making the judiciary independent. Thus, rigid qualifications are laid down for the appointment of judges and provision has been made for compulsory consultation of the Chief Justice of India in the appointment of every judge of the Supreme Court and the various High Courts. The independence of the High Court is emphasised by Art. 229 which provides that appointment of officers and servants shall be made by the Chief Justice or such other Judge or Officer as he may appoint.

The Judges are appointed almost for life. The retiring age for judges of the Stpreme Court of India is sixty-five years, the highest for any service in the country. The conditions of service of the Judges of the Supreme Court and the High Court can not be altered to their disadvantage, once they are appointed. They are given high salaries and their conduct is made a subject beyond the scope of discussion in the legislature. They can be removed from office only for proved misbehavous. For this purpose, both the Houses of the Parliament will have to pass resolution against a judge supported by a two-third majorty of those who sit and vote

and at least an absolute majority of the total membership of the House

In the final analysis of the Constitutional provisions securing for establishment of independent judiciary, it can be concluded that the true guarantee of citizen's rights is not the Constitution but the integrity of the judges of the Supreme Court and the various High Court in the country If judges can be corrupted by offers of employment after retirement or by other means, not much independance can be expected of them

6 Conclusion

Judicial independence acts as a safeguard, not marely against the manipulation of the law for political purposes, but also against the corruption of judicial organs of the State by bribery and intimi dation by powerful outside interest which threatens the impartial administration of justice from time to time

The independene of judiciary is essential because many of the significant victories for freedom and justice have been won in the law courts and the liberties of the citizen are closely bound up with the complete iudependence of the judges Obiously, the men who are to administer justice in the courts, the methods by which they are to be closen, the way in which they are to perform their function, the terms upon which they shall hold office, these and other related problems become inseparable with the ideal of judicial independence

Whatever be the theoretical merit of the case, it is ovious that in the prevailing circumstances in India, an independent judiciary is essential if the rights of the people are to be protected The prevailing socio political circumstances make this essential A political party which has enjoyed absolute majority in Parliament for a fairlly longer time, and which is still dedicated to the sole aim of perpetuating its rule, make this all the more eseential In the absence of an independent judiciary, there is no other institution which can safeguard either the Constitution or the civil liberties which make for democratic life

———

Future of Democracy and Rule of Law in India

SYNOPSIS

1. Introduction–Meaning and Changing Concept of Democracy
2. Rule of Law and Democracy.
3. The present state of Democracy in India.
4. Dis ipline in Democracy.
5. Conclusion : Future of Democracy and Rule of Law in India.

1. Introduction :—

There are several ways to define democracy, Political thinkers have enumerated numerous contents which a damocratic government ought to possess. Broadly speaking, democracy seeks the welfare of society as a whole. It takes into account the interests of the individuals and the society both. Democracy also requires that all the individuals constituting a political, social or community institution, should be given a free hand in participating actively in the administative activities. In democracy, the rulers and the ruled are not two diametrically opposed groups. In a democratic set-up, the government is of the people, for the people and by the people. Democracy can not function smoothly if the gulf between the ruler and the ruled remains too wide.

Democracy is not only a method of government, but a way of life which depends, for its validity, on the consensus and rational synthesis of various conflicting claims in a society. Democracy plays a vital role in harmonising various interests and for resolving conflicting claims. Political democracy would lose its purposes if it does not lead to social and economic democracy. It is imposible to separate the political life of a society from its social and economic life. The dream of fore-fathers of our egalitarian democratic society, for removing all disparities and differences of caste, religion, race and sex would be incomplete if it did not provide economic security to the masses. To call a starving man free is but to mock at him. The texture of democracy is not only political or economic but something of the mind and the spirit as well. It involves equality of opportunity to all people as far as possible in the political, economic and social domain.

The term 'democratic' indicates that the National Constitution of a country has established a form of Government which gets its authority from the will of the people The rulers are elected by the people and are responsible to them Justice, Liberty, Equality and Fraternity which are the essential characteristics of a democracy are declared in the Preamble of the Constitution as the very objectives of the Constitution

In this regard, the Directive Principles of State Policy enshrined in our Constitution have a great value, for they lay down that our ideal is economic democracy Because we did not want merely a parliamentary form of Government to be instituted through the vorious mechanism provided in the Constitution, without any direction as to what our economic ideal is or as to what our social order ought to be, we deliberately included the Directive Principles in our Constitution The objectives of our Constitution are two-fold (1) to lay down the form of political democracy and (2) to lay down that our ideal is economic democracy and also to prescribe that every Government whatsoever is in power, shall strive to bring about economic democracy

2. Rule of Law and Democracy—The guarantee of equality before the law is an aspect of what Dicey calls the Rule of Law in England Rule of Law, as Dicey has described, means that no man is above the law and that every person, whatever be his rank or condition, is subject to the jurisdiction of ordinary courts Dicey has further stated in this regard that every official from the Prime Minister down to a constable or a Collector of taxes is under the same responsibility for every act done without legal justification as any other citizen Thus, the rule of law embodied in Article 14 is the basic feature of the Indian Constitution and hence it can not be destroyed even by an amendment of the Constitution under Article 368 of Constitution

Before making a reference for Constitutional provisions, it has to be made clear in mind that Rule of Law and Democracy carries the same ideals and goals of a welfare State Without Political or Economic democracy, rule of law can not even be imagined, as we can not even think of Rule of Law in a totalitarian form of government, dictatorship or anarchism Similarly, democracy implies a scheme of rule of law Therefore, both democracy and rule of law overlap each other Some jurists say that they are one and the samething

The Constitution affirms the basic principle that every individual is entitled to enjoy certain rights as a human being and the enjoyment of such rights does not depend upon the will of any majority or minority. No majority has the right to abrogate such rights. In fact, the legitimacy of the majority to rule is derived from the existence of these rights. *These rights include all the basic liberties such as freedom of speech, movement and association, equality before law* and equal protection of laws, freedom of religious belief, and cultural and educational freedoms The Constitution has classified these rights into seven categories and one of them is the right to constitutional remedies which entitles every aggrieved person to approach even the Supreme Court of India to restore to him any fundamental right that may have been violated.

It is, a basic affirmation of the Constitution that the political system that it establishes should provide conditions favourable for the maximum development of the individual's personality. The framers of the Indian Constitution were conscious of the fact that in the absence of the enjoyment of the above-mentioned *rights*, development of the human *personality* was impossible and *democracy* would sound an empty word. Having spent most of their lives under a foreign rule and having fought relentlessly for the enjoyment of these rights by themselves, it was natural that they should have wanted to these rights in the Constitution. The prime importance of these rights is that while the will of the majority decides how these freedoms are to be implemented, the existence of the freedoms themselves is not subject to that will. On the contrary, these freedoms set the conditions under which the will of the majority is to be formed and exercised. They establish the framework of the democracy for the rule of the majority.

The 42nd Constitutional Amendment is aimed at putting the socialism and democracy together in regard to which the preamble of the Constitution has also been amended. In the Parliamentary system where Parliament is supreme and represents the will of the people by vote of majority, there appears to be *no reason to create* an unhealthy climate with a view to destroy the very *democratic* structure.

Our Constitution envisages the fundamental rights of the people as well as lays down the directive principles *promising people in taking* steps and measures in due course of *time for the welfare and benefit of the citizens.* There was a lot of hue and cry

when the Constitution was sought to be amended by the Parliament after the verdict of the Supreme Court in Golakh Nath Case No doubt, in Golakh Nath case, the Supreme Court held that fundamental rights granted to the people can not be abrogated by bringing an amendment in the Constitution, but this fact should not be lost sight of that the majority of the judges in some cases also observed that fundamental right to property is a very week right and ought not to have been included in the chapter of fundamental rights Anyway, all such controversial issues have now been settled down by the 42nd Amendment of the Constitution which really speaks the will of the people enshrined in the Constitution in the form of directive principles

3 **The present State of Democracy in India**—Now the question arises whether in the broad perspective of democratic principles, India has gone ahead in the emancipation of its suffering masses beset with poverty, hunger, unemployment and illiteracy Has our Union as well as the State Governments fulfilled the aspirations of the people, cherished by them since they achieved Independenence ? Preceding the sixth Lok-Sabha midterm poll, the ruling party led by Mrs Indira Gandhi imposed the Emergency on the plea that the opposition parties were thwarting her in her activities meant for relief of the poor and the down-trodden people of the society For almost one and half year, all the prominent leaders and most of their associates were put behind bars There was complete freedom for the ruling party to launch a compaign for the eradication of the social and political maladies existing in the country But due to the lack of discretion on the part of the administrators and mismanagement on the part of the bureaucracy, the ruling party failed to ameliorate the condition of the suffering masses It was outvoted by the people and an opportunity was rendered to the Janata Party to take legislative and administrative control of the government in its hands The Janata Party gave ample assurances to the people of this country to provide a better rule and do something substantial and solid for the poorer sections of the society But it disillusioned the masses by its inner-conflicts and lust for power and the Seventh Lok Sabha mid poll brought Congress (I) Party again in power

On having studied carefully these upheavals and change-over, we find no basic change in the conditions of the people at large Corruption at all levels is rampant, the unemployment rate has

abnormally increased, the law and order situation has gone from bad to worse, the demon of inflation and the nefarious activities of the black-marketeers are ruining our national economy, atrocities of the feudal classes over the untouchables and the backward people reaching new heights. The gap between the rulers and the ruled has widened all the more. None of the two Governments have succeeded in bringing about a socio-economic change which was badly needed for the country. People's aspirations remain still unfulfilled.

4. Discipline in Democracy—Political liberty and politica rights can exist only so long as political order remains. Criticism of the action of the Government is, of course, a right of the oppo sition in parliamentary system but it should have a well meaning Criticism for the sake of criticism can not be considered a healthy sign for functioning and flourishing of democracy in a country like ours where many of the promises made to the people are yet to be fulfilled. Unhealthy and useless criticism will unnecessarily cause hinderance in achieving the targets and making the progress with a speed with which we want to go ahead.

The fundamental freedoms guaranteed to the individual under the Constitution are not absolute. Individnal rights, howeve basic they are, can not override national security and general wel fare. We know very well that in the absence of national security and general welfare, individual rights themselves are not secure Freedom of speech does not mean freedom to abuse another freedom of movement does not mean freedom of physical attack or others. The Constitution has made express provisions dealing with such limitations of fundamental rights so that those who seek to enjoy these rights may also realise the obligations attending them.

One is, of course, free to express his views about public dis centent and against Government policies but at the same time discipline requires a regulated expression of thought without caus ing annoyance to any individual. The discipline is, therefore, an essential factor in a democratic set up without which there is every likelihood of arising a state of anarchy leading abuse of politica freedom and the basic principles of democracy itself.

Unfortunately, the concept of freedom has been lightly under stood in our democratic way of life with the result that strikes by industrial workers, peasants, employees and students have almost

become every day feature To raise a voice for legitimate demand is of course a right but this right has to be exercised with great restraint and only when all methods and remedies of pursuing the demands are exhausted Students often choose to go on strike They do not only cause loss to their own studies in the field of education but they create an unhealthy climate for the younger children reading in schools to follow the suit

5 **Conclusion , Future of Democracy & Rule of Law in India–** India today is in the process of transformation from medieval to a medern society through conscious planned effort Only about three decades ago we got independence We have adopted the Socialistic pattern of society and a democr tic way of life Our Government is a welfare states A Welfare State is that State which looks after the welfare material moral and intellectual of all its citizens regardless of their social class and economic state of affair A Welfare State therefore gives very high priority to the democratic values of life for its entire population We have embarked upon the planning system of economic development The Fundamental Rights and Directive Principles of State Policy enshrined in part III and IV of our Constitution have laid great emphasis on Political and economic democracy and it is now the well established and well accepted public policy of our country to extend democratic values to every walk of human life as far as practicable

We are now living in the age where the progress of science and technology is demanding a new type of human life This is a kind of challange not to the nation but to the mankind particularly to the younger generation that they should rise to the occasion to make the nation healthy strong and prosperous Education is the only key to achieve this object and as such the students must be properly trained in the manner and way befitting for the service of the community instead of wasting their precious time and energy in taking part in strikes and doing all that is not desirable The young generation must have confidence in themselves and in the future of democracy in India The path is not easy and it covers a long distance full of hardships and difficulties The long distance will have to be travelled with great restraint and discipline in our system of democracy in order to achieve the ideals of Indian Democracy

---

Social Responsibilities of Lawyers or Legal Profession

SYNOPSIS

1. Introduction
2. Historical Aspect of Legal Profession
3. Role of Lawyers in Developing Indian Society
4. Lawyers and Indian Advocates Act, 1961
5. Standards of Professional Conduct
6. Social Obligations of Lawyers
7. Conclusion.

1. Introduction—Legal Profession is a significant aspect of administration of justice. Without a well organized profession of law, the courts would not be in a position to administer justice effectively and efficiently as facts of the case can not be put-forth before the court of law, evidence in favour or against the parties to a suit can not be properly adduced and legal arguments in support or against the parties can not come up properly before a court of law.

Besides, the legal profession is a potential force. It is capable of performing many important functions in the life of a community. In our own country, in the pre-independence era and in the two decades following independence the Bar participated actively in the mainstream of the nation's activities. Individual members or the Bar played extensive roles in the social and political life of the country making profound contributions and memorable sacrifices. They were men of outstanding ability, learning, experience, leadership and social commitment. The present state of affair of the legal profession saw rapid decline in the quality of the Bar with the gradual exit of the old legal lumanaries. What is the state of the bar today ? The atmosphere is full of jealousy, dissatisfaction, disorganisation, suspicious, frustration, cut-throat competition and corruption. The legal profession is passing through a painful phase. It is, therefore, in the fitness of things to take a note briefly of the historical aspect of the legal profession and the present state of affairs of legal profession.

2. Historical Aspect of Legal Profession—In the Charter of 1726, no organized legal profession came into being in the presidency towns of Calcutta, Bombay and Madras during the period of Mayor's courts. Those who practised law were devoid of any legal training or any knowledge of law Quite a few of the so-

called lawyers were the dismissed servants of the East India Company The first real step in the direction of organizing a legal profession in India was taken in 1774 when the Supreme Court was established at Calcutta The Regulating Act, 1773 empowered the Supreme Court to frame rules of procedure as it thought necessary for the administration of justice and due execution of its powers Thereafter, several other Regulations were passed to regulate the legal profession in the Company's courts in Bengal, Bihar and Orissa Similar provisions came into being in the Provinces of Madras and Bombay

In 1861, when High Courts were established in Calcutta, Madras and Bombay, these courts were empowered to approve, admit and enrol such and so many advocates, vakils and attorneys as the said High Court shall consider appropriate The Legal Practitioners Act, 1846 made some important improvements, namely (1) that the people of any nationality or religion became eligible to be the pleaders and the office was thrown open to all persons duly certificated, (b) Barristers enrolled in any Her Majestey's courts in India were made eligible to plead in the Company's Suddar Adalats Again in 1879, the Legal Practitioners Act was enacted to consolidate and amend the law relating to legal practitioners It empowered the High Court to make rules with the previous sanction of the Provincial Government as to the qualifications and admission of proper persons to be pleaders and Mukhtars of the High Court

In 1926, the Central Legislature enacted the Indian Bar Councils Act, 1926 The object of the Act was to provide for the constitution and incorporation of Bar Councils for certain courts in British India to confer powers and impose duties on such Bar Councils and to consolidate and amend the law relating to Advocates of such courts With the establishment of the Supreme Court of India in 1950 under the new Constitution, a new stimulus was given to the demand for a unified all India Bar Accordingly, in 1951 the Government of India constituted a Committee under the Chairmanship of Justice S R Das of the Supreme Court of India The Committee reported in 1953 and recommended the creation of a unified national Bar There was to be a common roll of the Advocates who would be entitled to practise in all courts in the country In 1961, the Parliament enected the Advocates Act to amend and consolidate the law relating to legal practitioners and

to provide for the constitution of the Bar Concils and an all-India Bar. The Act establishes an all-India Bar Council and a common roll of Advocates. An Advocate on the common roll has a right to practise in any part of India and in any court including the Supreme Court of India.

3. **Role of Lawyers in Developing Indian Society**—India, so far, being an under-developed country, it is under the pressure to strengthen her national economy rapidly. The Government and the law, therefore, have to play a creative role involving economic policy-making and planning, generating a network of regulations, restrictions, directions, prohibitions, and even state participation and monopolization in certain areas of commerce and industry. Secondly, law in the Indian society, has been currently playing a peculiarly creative role.

Since Independence, and especially since the commencement of the Constitution, the Bench as well as the Bar have been subjected to very heavy strain in India. The flood of new litigation released by the constitutional guarantees of fundamental rights and wide discretionary powers conferred on the High Courts and the Supreme Court of India to issue writs and orders to any authorities or persons have resulted in the creation and growth of altogether new areas of jurisprudence.

India is in the process of development. More than three decades ago we achieved Independence. We are passing from medieval to the modern industrial society. We have adopted the Socialistic pattern of Society. Our Government is a welfare State. Our problems are accute and more complicated as compared to the past. Therefore, the role and responsibilities of the lawyers have also taken a changed shape. They are now considered as advocates *not only of the social order but also of the social changes.*

4. **Lawyers and Indian Advocates Act, 1961**—The Advocates Act, was enacted by the Indian Parliament to establish an all-India Bar Council and a common roll of Advocates. The Act creates a State Bar Council in each State and Bar Council of India at the Centre. The Bar Councils are to be autonomous bodies having power to elect their own chairmen. The State Bar Council is empowered to admit persons as Advocates on its roll and to safeguard the rights, privileges and interests of the Advocates on its rolls The Bar Council of India prepares and maintains a common roll of Advocates, lays down standards *of professional conduct, lays down*

standards of legal education recognizes universities whose degrees in law will be a qualification for enrolment, exercises general supervision and control over Bar Councils, and safeguards the rights, privileges and interest of Advocates The Bar Councils are empowered to enforce discipline in the legal profession There is a provision for appointment of a Disciplinary Committee at the State as well Union level The Disciplinary Committee of the Bar Council of India would hear the appeals and pass such orders as it deems fit All proceedings of the Disciplinary Committee of a Bar Council are to be deemed to be a judicial proceeding Any Advocate may be designated as a Senior Advocate if the Supreme Court or a High Court is of opinion that by virture of his ability, experience and standing at the Bar, he deserves such distinction

5. Standards of Professional Conduct—An Advocate shall behave himself in a manner befitting his status as an officer of the Court, a privileged member of the community and a gentleman, bearing in mind that what may be lawful and moral for a person who is not a member of the Bar, or for a member of the Bar in his non-professional capacity may still be improper for an advocate An Advocate shall fearlessly uphold the interests of the client both in letter and in spirit

(a) **Duty to the Court**—An Advocate shall, during the presentation of his case and while otherwise acting before a court, conduct himself with dignity and self-respect Whenever there is a proper ground for serious complaint against a judicial officer, it shall be his right and duty to submit his grievance to proper authorities An Advocate shall maintain towards the courts a respectful attitude, bearing in mind that the dignity of the judicial office is essential for the survival of a democratic society Similarly, an Advocate shall not influence the decision of a court by an illegal or improper means Private communications with a judge relating to a pending cause are forbidden

An Advocate shall not appear in any Court or tribunal for or against an organisation or an institution, society or corporation, if he is a member of the Executive Committee of such Organisation or institution

(b) **Duty to the Client**—An Advocate is bound to accept a fee consistent with his standing at the Bar and the nature of the case Special circumstances may justify his refusal to accept a

particular brief. Similarly, an Advocate should not accept a brief or appear in a case in which he can be a witness.

An Advocate shall, at the commencement of his engagement, make all such full and frank disclosures to his client relating to his connection with the parties and any interest in or about the controversy as are likely to affect his client's interest. Similarly, it shall be the duty of the Advocate to uphold the interests of his client by all fair and honourable means without regard to any unpleasant consequence to himself or any other person. He shall defend a person accused of a crime regardless of his personal opinion as to the guilt of the accused, bearing in mind that his loyalty is to the law which requires that no man should be convicted without adequate evidence.

An Advocate should not act on the instructions of any person other than his client or his authorised agent. An Advocate should not agree to receive any share or interest in any actionable claim. An Advocate should not purchase for his own interest or for the benefit of any other person, any property sold in the execution of a decree or order in any civil suit. An Advocate should not lend money to his client for the purpose of any action or legal proceedings in which he is engaged by such client.

(c) **Duty to the Opponent**—An Advocate shall not in any way communicate or negotiate upon the subject matter of controversy with any party represented by an Advocate except through that Advocate. An Advocate shall do his best to carry out all legitimate promises made to the opposite party.

(d) **Duty to his Colleaques**—An Advocate should not solicit work or advertise, either directly or indirectly whether by circulars, advertisements, personal communications, interviews not warranted by personal relations, furnishing or inspiring newspapers comments or procuring his photographs to be published in connection with cases in which he has been engaged or concerned.

An Advocate shall not personally engage in any business; but he may be a sleeping partner in a firm doing business provided that, in the opinion of the appropriate State Bar Council, the nature of the business is not inconsistent with the dignity of the profession. Similarly, an Advocate shall not be full-time salaried employees of any person, firm, corporation or concern so long as he continues to practise, and shall on taking up any such employment, intimate the

fact to the Bar Council on whose roll his name appears, and shall thereupon cease to practise as an Advocate so long as he continues in such employment

6 **Social obligation of Lawyers**—There are three ideas involved in a profession group organisation, learn ng or pursuit of a learned art, and a spirit of public service For lawyers, the most important truth about the law is that it is a profession Therefore, the legal profession must ignore commercial standards of success The legal profession helps the courts to administer justice in its manifold aspects But as an organized profession, it must necessarly do much more The legal profession in a democracy has to be the watchdog of freedom and the rights of the citizens It must uphold the Constitution and the liberties enshrined in it It should promote and safeguard the dignity and the independence of the judiciary At the same time, it should also operate as a check on the judiciary against any compromise which is not in consonance with the highest standards of judicial integrity and its independence

The legal profession in our country should function as a watchdog against the assaults of the modern State whenever it seeks to curtail basic human rights, which is in fact a threat to freedom and democracy and to the rule of law in our soeiety

In the matter of providing free legal aid to the poor, the legal profession has a clear responsibility, a responsibility which unfortunately has not been discharged with even at the minimum expectation of the society Although lawyers do individually provide legal advice and assistance in deserving cases, there is an absence of countrywide organised effort for free legal aid to the poor

The need for a country-wide organisation assisted and subsidized by the State to provide pre litigation consultation and legal assistance during litigation offers a historic and challenging social opportunity to the legal profession in India

7 **Conclusion**—In conclusion, let us remember that there is purpossive & meaningful social responsibility of the legal profession in a free and democratic society, in which a lawyer has a function of public leadership It has to be understood that the legal profession can not function in vaccum or in isolation Unfortunately, since the advent of Independence, the lawyers in India have tended to withdraw into their own shells and are no longer in the

forefront of national life, instead they have preferred to be passive spectators.

If the Bar has to live on, it shall have to develop an adaptability to new blood. The yonng advocate must be accepted by the Bar with a spirit of large-heartedness. In every Bar Assocation there must be a special cell of lawyers for the purpose of welcoming and training new members of the Bar. When a young advocate joins the Bar, he should be able to approch the cell for professional help and guidance. The cell may assign him to the chamber of some senior member of the association under whose guidance he may start his own practice. That way, the new-comer will be able to carve out a small place for himself in the profession.

Legal Aid to the Poor

SYNOPSIS

1. **Introduction**
2. **Comparative Study ef Legal Aid.**
3. **Legal Aid and the Constitution.**
4. **Financial Aspect of the Legal Aid.**
5. **Students' Involvement in Legal Aid Programme.**
6. **Evaluation of the Legal Aid.**
7. **Conclusion.**

1. Introduction—"Poverty anywhere constitutes a danger to prosperity everywhere". This is a universal dictum whether the poverty is due to the unemployment of men, or for want of protection of weaker sections of society from natural or social risks, or for want of legal aid to the poor. One of the basic requirements of a just social order is that all persons whether rich or poor should have equal protection of the laws. Equality before the law implies that there should be equal opportunity between the 'well-to-do' and the 'weaker sections of society' of access to courts.

Cynics say that courts of law like the Taj Mahal Hotel are open to all who can afford the cost In the words of Justice Krishna Iyer 'Doors of justice can be opened with golden keys'. Litigation, legal assistance and advice are expensive services

throughout India as compared to the general standard of life in the country It is, therefore, the duty of welfare State to see that no one should be financially unable to pursue a just and reasonable claims or to defend a legal right

Due to poverty, persons of weaker sections are unable to press their just and reasonable claims in courts of law Similarly, due to poverty they are unable to resist an unjust and unreasonable claim or to defend a legal right Due to the same reason, sometimes a poor man accused of an offence is unable to defend himself at all The rich man will always be able to engage the services of more experienced and competent lawyers to advise and assist him But it is possible to provide reasonable competent legal advice and assistance to the poor to enable them to resist successfully unjust and unreasonable claims and to defend their legal rights

2. **Comparative Study of Legal Aid**—Legal Aid schemes of various kinds exist in many other countries A detailed description of all such schemes is not possible We will discuss a brief account of Legal Aid programmes available in England, America and a few other countries Schemes for free legal assistance to people of limited means and resources have existed for centuries in England and Wales In 1949, provision was made by the Legal Aid and Advice Act for revising these schemes The following provisions *were made in the revised schemes* (a) *the facilities already available in* criminal proceedings should be more easily accessible to those who needed them, (b) a wide and generally available system and virtually free legal advice should be established, and (d) a scheme of legal aid in civil proceedings should be introduced to provide representation in courts of all types from magistrates' courts upto and including the House of Lords The scheme established in the above Act for providing legal aid in civil matters has been gradually brought into operation until it is available in nearly all courts of law It is available in (a) certain cases which do not involve litigation, but where the assistance of lawyer is needed, and (b) the form of legal advice Legal aid in criminal cases is now covered by provisions of Criminal Justice Act, 1967 *Oral* advice on legal matters is available free of charge to persons in receipt of social security benefit, and at a very small cost–that is to those with limited means Advice is given by practising solicitors paid out of the Legal Aid Fund The scheme is administered by the Law Society

The concept of legal aid is not new in the United States of America. The legal profession has long appreciated that it is necessary in a democracy to develop a legal system in which inequalities in economic status would not preclude the attainment of equal justice for the poor as well as the rich. The leaders of the American bar are aware that the monopoly to practise the law entrusted to the legal profession by the people carries with it a duty to provide "the services that only licensed lawyers can render to all those in need of such services. In criminal cases, the court ordinarily appoint a lawyer for a defendent. However, no funds are available to compensate counsel. A lawyer was expected to serve without pay

Legal aid assistance to the poor made much progress in the late forties as a result of the leadership of the National Legal Aid and Defender Association, a private organization.

3. **Legal Aid and the Constitution**—The preamble to the Constitution of India speaks of justice, social economic and political and of equality of status and opportunity. Article 14 of the Constitution provides that the State shall not deny to any person equality before the law or the equal protection of laws. Equality in the administration of justice thus forms the basis of all modern systems of jurisprudence and administration of justice. Equality before the law necessarily involves the concept that all the parties to a proceeding in which justice is sought must have an equal opportunity to access to the court and of presenting their cases to the court. But access to the courts is made dependent upon the payment of court-fees, and the assistance of skilled lawyers is in most cases necessary for the proper presentation of a party's case in a court of law. Unless some provision is made for assisting the poor man for the payment of court-fees and lawyer's fees and other incidental cost of litigation, he is denied equality in the opportunity to seek justice. The legal aid to the poor litigant, is therefore, not a minor problem of procedural law but a question of fundamental character.

The need for legal aid can be based on yet another consideration Democracy can not survive without a system of administration of justice in which the poor people are able to take advantage. It would not be an exaggeration to ask that the very existence of free government depends upon making the machinery of justice avaiable to the humblest of its citizens.

The Constitution (42nd Amendment) Act, 1976 has inserted a new Article (Article 39-A) to the Constitution which reads as ollows 'The State shall secure that the operation of the legal ystem promotes justice on a basis of equal opportunity, and shall, n particular provide free legal aid by suitable legislation or scheme or in any other way to ensure that the opportunities for securing ustice are not denied to any citizen by reason of economic or other lisabilities

After the aforesaid amendment in the Constitution, the concept of legal aid to the poor has become more articulate The time has now come when State should, without any further delay, translate his constitutional directive into action by framing a suitable policy n this regard Legal aid is not a charity It is a social and moral duty that the society owes when it regulates its business by complex laws Humanising justice is the call of the day and legal aid to the poor is a big programme in that direction

4 **Financial Aspect of the Legal Aid**—The financial implications of rendering legal aid are of course, far reaching It could be relieved to a limited extent by voluntary organisation of the members of the bar and from service organisations Legal aid to the poor will have a tremendous psychological impact in lending people a sense of equality dignity and justice which the Constitution of India promises Any expenditure in this direction will be an investment The choice of a counsel is an important question The poor should not be left to the mercies of the counsel of poor quality

Legal Aid **Fund** should be provided by the Union as well the State Governments In a welfare State, the State must find funds for free legal or medical assistance In what way the State will raise these funds should be determined by the State itself The finances should be made available to the court concerned Taxed costs, if recovered should be distributed by the Court in which the litigation is taking place between the poor litigant and the Legal Aid Committee

5 **Programme of student's involvement in legal Aid**—In a law school the students participation in a legal clinic can further his own legal education and his preparation for law practice Most of the existing student programmes involve the participants in (i) interviewing applicants for legal aid, (ii) in the preparatian of detailed

reports on these interviews, (iii) in research into the legal issues raised, and (iv) in such further preparations, of course, under the supervision of the supervisers. In some States of U. S, A., Zambia and Indonesia, the students under proper supervison even appear and argue cases in open courts on behalf of poor clients. Therefore, the students gain exposure to actual cases and to the lawyers' problems in dealing with litigants. Involvement in the drafting of pleadings and other pre-trial preparations can familarise the students with the intricacies of court-procedure.

Clinical Legal Education is more than learning by trial and error. The essense of a clinical programme is supervision. Supervision can be provided not only by the whole-time teachers of law but also by those experienced lawyers who are engaged by the law schools for the purpose. It is, therefore, better for the student to develop the skills necessary in the legal field to develop his personal outlook towards his role as a lawyer while he is still a student.

Law like medicine is an art devoted to the service of humanity. Similarly, the primary purpose of law as that of medicine is either to solve people's problems or to help them to avoid problems. The effectiveness of law, like medicine, has to be judged from the manner in which the client has been affected. The professional lawyer treats the client in a routine manner. But the student, contact with him through the student legal aid clinic can contribute significantly to a more humanistic perspective,

In many countries there are various means of professional alternatives open to the new law graduate, such as, private practice, governmental service, business opportunities etc, But in India, nearly 95% students enter law schools with no intention of doing any professional legal work. They remain undecided even after obtaining LL. B. degree. The students legal services clinic, thus, offers students an exposure to what the *practice* of law is at *present*, Here he gets an opportunity to test whether he has the temperament to deal with the clients and competence to solve their problems. Thus, the students can make important career decisions.

6. **Evaluation of the Legal Aid**—Legal Aid has made remarkable strides in the world during the last two decades. In the United Kingdom, Legal Aid and Advice Act, 1949 provides a comprehensive and efficient system of legal aid. Some of the Canadian and Australian Provinces provide exnmples of fairly edeveloped patterns In the United States of America, the programmes

known as War on Poverty and office of Economic opportunity have radically transformed the legal aid and defender systems, drafting law in the service of the poor in a fairly big way and in an effective and efficient manner The legal aid programmes in Ceylon and Singapore are notable instances The legal aid programmes in these countries are largely and substantially supported by State grants and are implemented by the members of the legal profession

The task of organising legal aid in a poor and populous country like India is a task of wide magnitude and complexity It would require a steady moral commitment and considerable human and material resources The State will have to find and allocate substantial funds for legal aid in order that lawyers may be paid a part of the taxable fee which is quite small and to support a nation-wide organization supervising the norms and procedures of legal aid

Free legal aid shold be watched carefully and should not be allowed to be diluted or diminished below reasonable standards We have considerable man-power which can be utilized for the sacred cause of legal aid to the poor We also utilize the resources of the law faculties and law students who would in the process of working for legal aid programmes acquire an awareness of the problems of the poor and a sense of social involvement and responsibility which would make them lawyers, and what is more important, better citizens

7. **Conclusion**—From a critical assessment of the legal aid schemes in operation in various states of our country, and of various proposals which have been put forward from time to time, we can find an increasing commitment on the part of the state, the legal profession and informed public opinion to assume a social responsibility for ensuring the benefits of the law to the poor The task of legal aid is both a challenge and an opportunity Let us face the challenge which is posed to us Let us remember that the law serves and protects those who serve and protect the law

The process of enforcement of laws is still in the favour of the 'haves' The court fees and the legal expenses to exhibit and prove a truth prohibit the poor to get justice who have nothing with him expect the truth on their side The technicalties in our legal system have become so complicated that they are beyond the

reach of the poor people. All these difficulties will have to be surmounted if we wish to launch a legal aid programme in true sense. We can, therefore, conclude that if all of us realise the significance of the function of law in a democratic state, we should recognize our obligation to the society at large, which includes poor people also, because service of law is, on the whole, service of the society itself.

Jayaprakash Narayan and Total Revolution

SYNOPSIS

1. **Introduction**
2. **Some Glimpses of J. P.'s Life.**
3. **Ideals of His Life & Character.**
4. **J. P. and Total Revolution.**
5. **Conclusion : Need for J. P.'s ideals of Democracy.**

1. **Introduction**—Jayaprakash Narayan was unique among political leaders in many respects. In the post-independence period his political career may be called a chequered one. He had moved away from actual politics, because of his loss of faith in political parties with their narrow, power-shot policies and actions. His deep sincere nature got attracted to more constructive channels like **Bhoodan**, and its follow-up of settling the landless peasants and helping them take root and become productive citizens. It was not only a gigantic task but a very arduous one.

Many illustrious sons of India have played a vital role during the days of our freedom struggle. The whole country fought as one man against the British. The credit goes to Mahatma Gandhi who gathered all freedom fighters under one umberella. Jayaprakash Narayan possesses the unique distinction of having led two revolutions of the country; one in the "forties and the other in the seventies" Although Gandhiji had given the call for the 'Quit India' movement in 1942, it was J. P who had led the non-violent sector of the movement from inside the country. However, during 1974-struggle, he was single-handed in his fight against the power of an oligarchy which preferred to ignore all public demands for

bringing about clean administration The two battles were of some importance of contemporary history and had drawn the attention of the people all over the world

2. Some Glimpses of J P.'s Life—J P became Chairman of the Association of Voluntary Bodies, he became deeper and more significantly involved in rural development projects that attracted attention in the country and abroad J P confined himself to rural reconstruction work, helping the peasantry to get better seed, manure and build small irrigation projects, dig wells, improve housing facilities, and, above all, organise young people for a new life with emphasis on more fundamental social values

Yet whenever the country was faced with a moral crisis-be it conflicts with Pakistan, tribal unrest, labour revolts, Kashmir problem, Bangladesh—J P emerged suddenly like the still small voice within us that we call conscience He faced many a criticism from a section of the public, earning unpopularity There were some who felt that J P should really leave politics and devote his whole life in the remote villages

His almost dramatic emergence in 1974-75 opens a new chapter in India's long history He was really picking up the threads from mid-1947, to complete the unfinished revolution

Gandhiji, the Socialists, and some others realised, when the British presented their terms for the transfer of power to India and they were accepted on the basis of partitioning the country, that India was in a sense down on its knees and not upright on its feet Indian leadership had not heeded Gandhiji's advice, his emphasis on what he modestly called "the constructive programme", so basic for laying a sound foundation for a new India, comprehensive and touching all aspects of our national life The great revolution that our leader had launched was abruptly interrupted

J P Left the Party and gave his 'JIVAN-DAN' to the Bhoodan movement under Vinoba This happened at the Gaya Conference of the Bhoodan and Sarvodaya workers in 1954 Following J P, Asha Devi and many others took the vow of Jivan-Dan Vinoba himself gave 'Punah' (again) Jivan dan There was plenty of weeping in the meeting Leaders gave expression to such feelings at the public meeting held later that evening

J P soon came to be recognised as the leader of the Bhoodan

and Sarvodaya organisations. But, both J. P. and Acharya Kriplani felt that the affairs of the country were not being properly managed. Several times leaders of national repute asked J. P. to join them in forming a new party, weded to Gandhiji's ideas; but he always declined. Later, he propagated the idea of a partyless democracy.

Ultimately, in 1975, J. P. saw that there was no escape from the party system. He headed the movement that had been started in Bihar by the students, to oust the corrupt Congress Government there. The different democratic opposition parties; the Congress (O), the socialist parties, the Bhartiya Lok Dal all came together under his leadership.

J. P. was kept in solitary confinement in a room in the Chandigarh Medical Institute. It was said that he was not keeping good health. The condition of his health was deteriorating. When his health became serious, the Government was obliged to release him; but, even then, only on a parole. J. P. was brought to the All India Institute of Medical Sciences in Delhi for treatment. Those who saw his condition then thought that he would not last long. Fortunately, his brother insisted on taking him to Bombay for treatment. He was admitted to the Jaslok Hospital in Bombay. He recovered but his kidney trouble was incurable. He has to undergo dialysis after every two days.

In spite of all this, during the last general elections to the Lok Sabha, he was busy helping the opposition parties in their compaign. They saw no chance of success unless they fought the elections together. They had learnt their lesson through common agitation and suffering There was very little time given to them to organise the election compaign. But, without wasting any time they combined and fought the election. They carried on a concerted campaign and did not set up candidates against each other. The electorate rejected the then existing rule and reposed their confidence in Janata Party.

The latest plan of J P. was that he wanted to work for what he calls 'total revolution'.

3. **Ideals of his Life and Character**—Thus J P's life falls into two distinct phases one during the freedom-struggle and the other the post-independence period. The ideals of his character and

personality which can be observed during both the periods are as follows

(a) his devotion to whatever cause he took up,
(b) his courage and fearlessness,
(c) Independent thinking,
(d) Radicalism in thought and action,
(e) Absence of narrow personal ambitions

Jaya Prakash Narain was a very highly respected Leader of India His influence was very far and wide He never fought for any selfish motive, power or position Everyone knows that he always avoided motive, power or position He has lived a full life, often arduous, frequently under stress and strains of ill-health, sometimes extremely dangerous His honesty, his courage, his sincerety, his refreshing common sense and his sense of humour make him a unique leader Gandhiji expressed his sense of gratitude for Jaya Prakashji in the following words

"You know Shri Jaya Prakash Narayan and Dr Lohia Both of them are daring men of action and scholar They could have easily become rich But they choose the way of renunciation and service To break the chains of the country's slavery was their one passion Naturally, the alien Government regarded them as dangerous to its existence, and put them into prison'

4 **J. P. and Total Revolution**—After India became free, J P has been for many years in a state of wilderness, both politically and philosophically This state of affair in his life continued even when he was engaged in building up the Socialist Party He wanted to be clear and firm about his philosophy of life on personal and collective plane The more he thought, the more he was drawn to what Gandhiji had said on some basic problems before his countrymen In this, J P met with a mixture of success and failure For sometime, he espoused Bhoodan But all the time he was looking for better and fuller solutions of India's problems At one time in the history, of the nation, he felt that democracy and all its values were in imminent danger The people also looked to him for guidance The type of guidance he made available is his concept of 'total revolution' This concept could be considered as an interpretation of Gandhian thought in the context of new challenges This is his own serious thinking on issues which face the present Indian society

J. P. expressed his ideas very clearly and has explained what he means by 'total revolution'. His Prison Diary reveals his spiritual thinking with anxiety as to how India has to plan for future. His Diary reveals mixture of action and meditation. His concept of total revolution deals with many spheres-social, economic, political, cultural, ideological, intellectual, educational and spiritual. He has spelt out the broad outlines in his Prison Diary. He contemplates change and reconstruction within the moral, economic, political, cultural educational and social framework.

His faith and his love in the people and particularly youth of India is unshakable. For implementing his concept of total revolution, he has made it clear that "this effort need not always assume the form of confrontation with the Government; it may be carried in co-operation with the Government provided the Government is responsible to the people's will and is committed to their welfare". J. P. who has always stood for integrity. justice, prudence and wisdom, has explained the greatest principle which sustains a democracy. In his message to the Nation on the 13th April, 1977, he rightly observed :

"It is true that what is called the 'right to recall' has no place in our Constitution, but in a democracy the people have an unwritten right which they can exercise if and when necessary. All this does not mean that any small number of persons have the right to demand an elected representative or government to step down from office whenever they wish. But it does not mean that if it is found, beyond any doubt, that a vast majority of the people concerned are convinced of the corruption, nepotism and inefficiency of a Government, or an elected representative, and demand their resignation, the people's voice must prevail".

5. Conclusion : Need for J. P.'s ideals of Democracy—Jaya Prakash Narayan was the architect of the Janata Party victory at the polls It was for the Janata Party to retain the confidence of the people in it It continued to be one of the J. P.'s responsibilities to see that the Janata Party discharged the promises given to the people in its election manifesto Although, the situation has changed considerably and new political alliances have come forward to establish their own sovereignty, but J. P.'s ideals still continue to guide them for all times to come

Jayaprakash Narayan has been an ardent political worker and a nationalist in his outlook, approach and activities The nation remembers with gratitude his services during the freedom struggle. His life has been a noble example of answering fidelity to national welfare He was a liberal thinker, a social reformer and a political fighter The country should be ever grateful to him for restoring individual freedoms and the democratic values The political revolution contemplated by him has been achieved once but the social and economic revolution for which he stood is yet to be realised It is, therefore, a call of the time that our country-men should march forward to achieve those cherished ideals

---

United Nations Organisation : Contribution & Assessment of its Works

SYONPSIS

1 **Introduction ; Factors leading to the establisment of the U. N. O -Sanfrancisco Conference**
2. **Legal Character of the U. N. O**
3 **Purposes of the U. N O.**
4 **Principles of the United Nations**
5 **Contribution of the U N O.**
6. **Conclusion : Critical Assessment**

1. **Introduction**—After the First World War, League of Nations was established The objective of the League of Nations was to establish peace and security in the world, but it completely failed to achive its objectives The Second World War again compelled the peace-loving countries to establish peace in the world Therefore, an earnest effort was made to establish International Organisation so that mutual disputes could be resolved peacefully and that peace and security could be established in the world Consequently, the Great Powers of the world had started making their efforts in this direction A World Conference was held in Sanfrancisco on January 26, 1945 wherein the United Nations Charter was adopted and signed by 51 Nations of the World The

U. N. Charter was ratified on October 24, 1945 and consequently the United Nations was established on October 24, 1945.

The Great Powers had started making efforts even during the war to establish an International institution like U. N. O. The drafting and ratification of the U. N. Charter was finally agreed upon after passing through a critical stage in the following Conferences or Agreement : The Declaration of St James Palace (June 12, 1941); The Atlantic Charter; the United Nations Declaration (January 1, 1942), Moscow Declaration (October 30, 1943); the Tehran Conference (December 1, 1943); Dumbarton Oaks Conference (1944); The Yalta Conference (February 11, 1945) and the Sanfrancisco Conference (1945)

Sanfrancisco Conference—As stated earleir, the Sanfrancisco Conference was held on June 25, 1945. It was attended by a large number of States The U. N. Charter was voted and was ultimately adopted in this Conference. Sanfrancisco Conference was attended by 51 States. These 51 States were original members of the United Nations. At present the United Nations has as many as 156 members and as such it has trebled. We can, therefore, safely conclude that the United Nations has now achieved near universality. If we compare the wideness of the U. N. O. with League of Nations we find that the United Nations is an universal International Organisation in the real sense.

2. Legal Character of the U. N. O.—United Nations has also a distinct legal personality of its own apart from those of its members As per Article 104 of the U. N. Charter, the Organization enjoys such legal capacity as may be necessry for the exercise of its functions and the fulfilment of its purpose, Similarly, Article 105 provides that the organization shall enjoy, in the territory of each of its members, such privileges and immunities as are necessary for the fulfilment of its purposes. Moreover, representatives of the Members of the United Nations and officials of the Organization shall enjoy such privileges and immunities as are necessary for the independent exercise of their functions in connection with the Organization. Article I of the Convention provides. "The United Nations shall possess Juridical personality." It shall have the capacity (a) to contract (b) to accquire and dispose of immovable property; (c) to institute legal proceedings

3. Purposes of the U N. O.—One of the purposes of the United Nations is to maintain International Peace and Security.

To fulfil this end the another purpose of the U N O is to take effective collective measures for the prevention and removal of threats to the peace and for the supression of acts of aggression or other breaches of peace and to bring about by peaceful means and in conformity with the principles of justice and International Law, adjustment of international disputes or situation which may lead to a brech of the peace

The second purpose of the United Nations is to develop friendly relations among nations based on respect for the principles of equal rights and self determination of people and to take other appropriate measuses to strengthen universal peace

The third purpose of the U N O is to achieve international cooperation in solving international problems of economic social cnltural or humanitarian character and in promoting and encouraging respect for human rights and fundamental freedom for all without any discrimination based on race sex language or religion

The last purpose of the United Nations Orgnnisation is to make it a centre for harmonising the actions of nations in the attainment to those common ends

4 **Principles of the united Nations Organization**—Art 2 of the U N Charter provides that the Organisation and its members in pursuit of the purposes enshrined in Article 1, shall act in accordance with the following principles

1 The first principle of the United Nations is that the Organisation is based on the principle of the sovereign equality of all its members According to this principle, all the members of the United Nations are equal in the eye of law irrespective of their size or strength They are all equal in the eye of law and no discrimination can be made on any basis Undoubtedly it is an important principle and the framers of the U N Charter deserve credit for having included this principle in the Charter

2 The second principle of the United Nations is that all members shall fulfil in good faith the obligations assumed by them in accordance with the present Charter

3 All members shall settle their international disputes by peaceful means in such a manner that international peace and security and justice are not endangered

4. According to the fourth principle of the United Nations, all members shall refrain in their international relations from the threat or use of force against the territorial integrity or political independence of any State or any other manner inconsistent with the purpose of the United Nations.
5. The next principle is that all members shall give the United Nations every assistance in common action it takes in accordance with the present Charter and shall refrain from giving assistance to any State against which the United Nations is taking preventive enforcement action.
6. The organisation shall snsure that States which are not mambers of the United Nations act in accordance with these principles so far as may be necessary for the maintenance of international peace and security.
7. The seventh and the last principle of the United Nations states that nothing contained in the present charter shall authorise the United Nations to intervene in matters which are essentially within domestic jurisdiction of any State.

5. Contribution of the U. N. O.—There was a general expection that the great powers would continue to cooperate even after the second World War. Consequently these great powers were made the permanent members of the Security Council and were also given veto power so that they could perform their functions effectively.

Sometimes it is said that the U. N. O. has made no contribution for the maintenance of peace and security. This statement is far from the true picture of U. N. O. It is true that because of the mutual confiicts of great powers, the Security Council has not been able to perform properly its primary responsibility for the maintenance of international peace and security but at the same time it cannot be denied that in a number of conflicts, the Security Council has contributed to the maintenance or restoration of international peace and security. Among such conflicts, conflicts of Korea (1950) Palestine, suez-crisis (1956). congo (1960-61) and Middle-East (1973) deserve a special mention. It must, however, be added that U. N. has been successful only in stopping the hostilities or armed conflict. It has failed and failed miserably in finding ... political solution of

the problems Yet it deserves the credit for having avoded the conflicts converting into world wars

Due to the failure of the United Nations to perform its chief objective of maintaining peace and security in the world, the nations of the world were compelled to enter into regional arrangements such as North Atlantic Treaty Organisation (NATO), South East Atlantic Treaty Organisation (SEATO) Middle East Defence Organisation (MEDO), Central East North Treaty Organisation (CENTO) However, it may be noted that due to the conflict among the great powers the regional agencies not only evaded the performance of their function of assisting the Security Council, but also evaded the control and supervision of the Security Council It would not be wrong to say that some of the regional agencies are little more than the old fashioned military alliances which foment great power rivalries weaken the effectiveness of the United Nations and undermine the principle of collective security

However, it should not be concluded from the above discussion that the United Nations has proved to be a complete failure and that it has made no contribution for the maintenance of peace and security In fact, there are several examples where the United Nations has performed commendable functions even in the sphere of maintaining world peace In this connection, the case of Korea (1950), Palestine, Suez (1956), Congo (1961) and Indo-Pakistan Conflict (1965) deserve special mention It must, however, be conceded that excepting the case of Congo, the United Nations could be successful only in stopping the armed conflict for a temporary period Of course it failed miserably to achieve a political solution of the problem

Apart from the afaresaid conflicts and their solution United Nations Organisation has performed commendable contribution in the following spheres

1 The U N O has performed commendable functions for ending colonisation Most of the states which were the colonies of some major powers have now become independent and are at present the members of the United Nations

2 The functions performed by the U N O in the field of human rights and fundamental freedoms have been really praise worthy In the f

the 'Universal Declaration of Human Rights, 1948 and International Bill on Human Rights.

3. The General Assembly of the United Nations the Economic and Social Council and the specialised agencies of the U. N. O. have performed important functions in the economic and social fields. Even if we leave aside the functions of the United Nations in other spheres, it has become an indispensible organisation because of the functions it has perfomed in this sphere.

6. **Conclusion : Critical Assessment**—To conclude, it can be assessed that the United Nations continues to justify its existence in many fields of activity for the promotion of human welfare and of a spirit of community, however short, it has come of the role once envisaged for it as a legal authority sufficiently adequate for keeping the peace. It cannot be denied that the major defects and deficiencies of the U. N , conflicts among the great powers and lack of their mutual cooperation have not yet been overcome.

It cannot also be denied that in the sphere of maintaining world peace, there is a crisis before the United Nations which has not so far been satisfactorily resolved. But if we evaluate the functions of the United Nations as a whole, we cannot but conclude that it has proved its worth and it is difficult to imagine a world without it

The United Nations has shown a remakable capacity for development within the limits of the existing Charter. There is no reason to believe that possibilities of future development have been exhausted. Thus we see that despite the failures, weaknesses and many defects, the United Nations survives and it has become indispensible and it would not be wrong to say that it has become an Organisation of inescapable importance.

India's Orbit Into Space

With the flight of the first Indian cosmonaut squadron Leader Rakesh Sharma aboard the Soyuz T-11 on the 3rd April 1984 not only another historic chapter has been added to the annals of Indian space programme but in addition to that Indo-Soviet friendship has taken another big leap The idea of a joint Indo Soviet manned space flight was put forward during the late Soviet President Leonid Brezhnev's visit to India in December 1980 India accepted the offer and the format of the proposal was conveyed to the Soviet Union a year later

India's first introduction to space—India is no stranger to space virtually starting from scratch India has acquired the technological, skill to design, febricate and independently launch satellites and rockets into outer space Satellites like Aryabhatta, Bhaskara-I and Bhaskara II (these satellites were launched from the Soviet cosmodromes with Soviet rockets) Rohini 2 and INSAT-1B bear ample testimony to India's advancement in space technology In 1975, the technol gical satellite Aryabhatta was launched by the Soviet rocket This was a test satellite to demonstrate India's ability to design and build a spacecraft, develop methodology for handling data from orbit and exercise ground receiving transmitting and tracking systems It functioned until March 1981, The experimental phases ended with the launching of Bhaskara I and Bhaskara II both from a Soviet cosmodrome

Bhaskara-I weighing 979 lb at lift off was launched on 20th November 1981 Its payload was similar to Bhaskara II, with addition of a microwave imaging system test solar cells and thermal coatings and a meteorological data collection platform

Further space based technological advancements

Space based communication technology was ushered in 1981 with the launching of Ariana Passenger Payload Experiment (APPLE) APPLE helped test several kinds of linkages with earth stations and with transportable remote communications terminals Rohini I and Rohini II were the two Satellites which were launched from an Indian cosmodrome (Sriharikotta) with the help of an India rocket SLV-3

The system which came to be known as INSAT-1 was defined by June 1977 and approved in July 1981 In April 1982, INSAT-1-A, built by Ford Acrospace company of United States according to specifications *provided by Indian space* Experts was put into orbit with an expected functional life of seven years, but the satellite had to be deactivated within five months of blast off Therefore on 30th August 1983 a multipurpose satellite INSAT-1B, aboard the US space shuttle challenger, was successfully launched INSAT-1B underwent three modifications after INSAT-1A loss The solar boom and a propellant isolation valve were modifi d, and a automatic switch to omnidirectional telemetry was added in case Earth pointind is lost Microswitch which failed to indicate whether the solar sail was functioning or not in INSAT-1A was eliminated.

There is no denying the fact that the Soviet Union, as against help on commercial terms by others, has assisted India most extensively and generously. Starting from the gifts of M-110B rockets and MISC computers for meteorological studies in the fifties, the USSR trained a number of Indian space sciantists and provided launch vehicles and facilities in the Baikonur cosmodrome for Aryabhatta, Bhaskara-I and II satellites. The soviet trained two Indian Air Force pilots, Wing Commander Ravish Merhottra and Squadron Leader Rakesh Sharma, of them, Rakesh has become the first Indian cosmonant.

First Indian cosmonant in Space—According to Prof. Satish Dhawan, Chairman of the Indian Research Organisation, "Indo-Soviet cooperation in space research has been extremely fruitful as far as India is concerned. The Soviet assistance has supplemented India's efforts towards self-reliance and hav helped accelerate the Indian programme towards self-reliance and has helped accelerate the Indian programme towards achieving national goals of using space technology for development."

The latest joint India-Soviet Soyuz-Salyut mission will help the Indian cosmonants to familiarise themselves with the elaborate protocols manoeuvres and command systems involved in the launching of manned spacecraft and docking them with oribiting stations. *In addition to it, there will be a plenty of benefits.* Squadron Leader Rakesh Sharma's experiments in material science, biomedicine and the remote sensing will expand the frontiers of knowledge and open up applications that have hither-to been out of reach Remote sensing of 3 2 million square kilo meters of the Indian ferritory with the help of high resolution milti-spectral camers has saved the country several crores of rupees and several decades. The analysis of the resulting photographs, will enable experts to track hurricanes, cyclones and dust storms to democrate flooded areas; monitor the growth the denudation of forests, to new agricultural crops and predict the yield. These would also provide the necessary data on snow meting and river flows, onset of monsoon as well as supply of land use.

Remote sensin programme—The remote sensing programme has been designed to lay special emphasis on inaccessible areas of the Himalaya, the Thar desert and the Indian Ocean region. The study of the Himalayas will be immensely useful in accurately estimating India's river and water resources and also facilitate planning for power stations in high rangey. The survey of the Thar desert will helpin the search for underground sources of moisture and studies of the so called seasonal water currents The Indian ocean study will identify areas rich in plankton and should be useful in planning marine fishing operations The camera sweeps could also lead to the discovery of minerals, oil and gas bearing structures in different parts of India. It is appropriate to mention that the Soviet Union recently discovered about 356,000 Sq. Kilometers of Petroleum

reserves in the Caspian Sea region with the help of space photography

The knowledge from the other most important experiment to be carried out by the joint crew in material sciences will later find application in the production of Semi conducting materials, super-pure crystals and solar cells It may also be applied in the development of diagnostic aids for card o vascular ailments etc

These apart, experiments in biomedicine and the study of the impact of weight lessness on the internal systems of human body by the crew aboard Salyut 7 would have great impact on medical science. It is a matter of pride that Indian made electrocardiograph machines will be used on board the spaceship for medico-biological experiments Further for the first time, cosmonauts will study the impact of Yoga exercises on cosmonauts during space flights Rakesh Sharma will perform Yogic exercises rather has performed Yogic exercises regularly during space flight In future such physical exercises performed in zero gravity conditions may help scientist to understand the effect of certain Yogic postures

Further the possibility of discovering some new medicines for treatment of fatal and infections diseases cannot also be ruled out Soviet space scientists have already produced extra pure, biological substance in the conditions of weight lessness with the help of electropheres s (an electric method of dividing substances) And thus Rakesh Sharma's space trip will prove beneficial to India in many ways ☐

Rising Student agitation— A firm hand needed

In the last year, the problem of student agitation and unrest has escalated alarmingly Violence in the campus blood shed and murders in Universities and Colleges have set a grave situation before Government and the citizens of India Reservation and Government admission policies also have created dissent and discontent among the students

Looking into the matter—A report In 1981, the University Grants Commission set up a 6 member Central Universities Review Committee (CURC) to study the academic and administrative functioning of Central Universities assess the state of discipline and to suggest remedial measures The report of the Central Universities Review Committee was submitted last year and was promptly accepted by the University Grants Commission The report views the present crisis in Central Universities as essentially a problem of 'law and order'

The Committee was get up to examine whether the Central Universities were fulfilling their objectives, the general state of discipline and causes of periodic disturbances among the students, and

literally, the opposite of secularism in India, are largely on the basis of religion in India Religions fanatics like Muslims and Sikhs, are carrying their extremism to the extent of shaking a whole country from its roots.

Roots of Communalism—The roots of communalism date back to way before, in the time of the Muslim invaders, but its recent origins lie in the time of the partition. At that time, the sparks that flew between the Hindu and the Muslim, never could be extiguished entirely.

Since then, every few years, riots and clashes keep taking place every now and then, some se..ous, some not so much so, but they require careful consideration all the same.

The roots of communalism can also be said to emerge from India's Socio-political organization, which is quite complex. It is also multi-layered. There is an intricate hierarchy. Cooperative activity at one level may cause insecurity at other levels. So this factor is also important in the formation of communal ill feeling and later, bitterness.

The riots in Bhiwandi—The recent riots in Bhiwandi stormed the whole country. They were clashes between Hindu and Muslim sects. But the difference was there. It was not a communal riot of the usual type, not one in which two communities attack each other, when they retaliate in areas where they are strong if they are hit in places where they are vulnerable. It was not as it one community was on the offensive in one locality and the other community took revenge in another. Almost every riot-torn basti was victim of a preplanned onslaught from outside. The local people fled; they were pursued, asssulted and killed, their valuables were stoken and their humble shacks, huts, houses razed to the grosnd. It was not a fight, it was an attempt at the massacre and expulsion of these helpless people. There were no pitched battles. In Bhiwandi, actually there was no riot as such, but there was a war on Bhiwandi-by outsiders at the instigation of outsiders and one suspects for the benefit of outsiders.

The cause of these riots was said to be traced back to the rumor that incited some villages that their womenfolk were beings molested in these bastis. There were added in centives for the villages, the land that could be grabbed, the loot that could be acquired. Communal sentiment was also whipped up to wipe out these bastis and drive their inhabitants away for good. And so it started, a gang warfare fought by proxy.

But, had the authorities been quick to act-first when intelligence reports had given ample warnings-or even later when the bastis were attacked, one after another, the damage would not hase been so great, For hours the bastis burned, for hours they were ransacked. It was not the usual pattern of a communal riot where two communities attack one another hit back when attacked, in

areas where they are in a majority It was not as if one community was on the offensive in one locality and the other community relatiated in another In every riot torn basti it had been a preplanned, organised ouslaught The local people fled, and they were pursued and killed and their edtire basti was razed to the ground

It is upto the Government to seek and profect the Bhiwandi people from their own enemies, and to instill in them a strong faith to be able to resist conversion attacks

Trouble in Punjab—Riots and clashes to the cause of religion have been going on in Punjab since the last couple of years. Things surfaced to the extreme when the Akalis strengthened their demand for a separate Khalistan and hoisted their so called Khalistan flag on the Golden Temple They used the Golden Temple as their 'War base' and housed all their weapons in it from LMG's to hand made hand grenades

Hundreds of people have died due to their callous attacks and hundreds more are on their hit list Then the army moved in and took overthe operation from the Government on the 6th June 1984 It took great pains not to harm the Harminder Sahib, the main seat of the Sikhs The extremist leader Bhindrawala was shot dead during the encounter, and a lot of other extremists/tenorists were also killed A lot of ammunation was rounded up and a lot of extremists put in Jail

The nation lost a large number of Jawans and suffered heavy casualties The nation lost a lot, by delaying the army action The Government should in future take immediate and firm action where there are chances of communalism turning into a disaster for the nation

Environment in Rajasthan

The environment in Rajasthan is becoming gradually like the environments of major urban metropolitan cities of India In other words, pollution is creeping up slowly until it crosses the 'No danger' level As it is Rajasthan is dry state, and barely any vegitetion thrives in deserts and then on top of it, pollution is proving guite disastrous to the environment, and consequently the vegetation of this state

Invitation to destruction and complications—It is a fact that if we nourish, protect and save the environment, it will nourish, protect and save us But if we do not safeguard it from pollution and biotic pressures related to the population expansion and so on, then in a way we are doing injury to ourselves as well as other animals and creatures on this earth In this way, we are inviting destruction upon ourselves first of all And also upon the other living creatures of Nature

Nature, life (man and animal as well as plant life) water and

air are complementary parts of the environment. For the development of life, we have to try to maintain a delicate balance between the various constituents of the environment. It is the moral duty of humans to try to propogate the development and maintenance of the environment and consequently the improvement of his own lot, that is, his present and future generations. Nature has given us pure distilled water and atmosphere both, and it is an invaluable gift to man, but the steadily escalating population, unorganized and haphazard industrial development and unsystematic habitation are alowly increasing the problems have become more and more serious day by day. Especially the problems of rapid industrialization. Also important problems are the problems of water and atmosphere pollution, the gradual destruction of our forest riches and our wild life.

In our country, rapid industrialization, excessive house construction, the use of strong, and harmful 'fertilizers' and pesticides in good fields which do not require it, etc have proved to be of a great loss to the environment of our country and this is especially true for Rajasthan. Also developments like increased means for irrigation, constant increase in the number of heavy and light vehicles transpassing the roads, the development of resources of energy, the cutting of forests for agricultural land, the construction of roads, highways and canals, and the use of vegetation and animals in industries for manufacturing various items, have contributed to the gradual destruction of the environment and its life-giving properties.

This is a worrisome fact because it concerns the health and happiness of the human being. So these are the factors which are an invitation to destructions as they are causing destruction and complications and which need to be looked into.

Broad categorization of factors—Human being is at the centre of natural resources and development, and he has to get about an adjustment and coordination in the system. The main cause of the increment of environmental problems is that alongwith the progress of the country, the population seems to be multiplying by leaps and bounds. An for its control, it becomes quite necessary to take effective social action. It we nalyze these difficulties, then broadly, we can classify them into two categories :—

Firstly, those environmental problems that arise from povorty and 'under-developmental situations. And second come those problems that stem from the side-effects of development and progress.

The problems of the first category are related to our natural sources and resources like land, water, forests and animal life. They arise from not effectively and properly utilizing our resources according to a methodological and systematic pattern.

The problems of the second category are related to the economic backing and the speed of progress. In this group, *the problems* arise from unsystematic development programmes being *adopted* and from people looking only to their present selefish interests, not care-

ing about the long term effects of their selfishness and desires on our prized natural resources It is clear now that this hhs become a serious food for thought It requires deep and careful study and careful planning for solutions Recently we celebrated the Environment Day on the 5th of June 1984 and so we should try to maintain the sanctity of our pledges

Increasing Pressure—The pressure on the environment is increasing day by day This is due to the increasing population explosion of the eighties and the need bay all families to maintain a high standard of living This has increased the pres ure as well as disturbed the equilibrium of the environmental forces The Government of Rajasthan should keep all this in mind and take suitable measures to combat the environmental pollution that is taking place at a fast rate in this state, and may prove to be very harmful in the long run if not controlled while there is still time □

Orwell's Year—1984

Finally, 1984, Orwell's year has arrived (It's half gone too ! but that's another matter) what does 1984 stand for ? Why is every one talking about the arrival of Orwell s Year ? What does it signify ? George Grwell, a distinguished writer, wrote about 1984, way back in 1948 The amazing fact is that the same ominous symptoms are present in the actual 1984 Precisely those that went into the construction of Orwell's nightmare There in not much difference between the satire and the reality For, as we are in the real 1984, we seem to be entering the last ditch phase of the struggle for democratic values against totalitarian tendencies similar to those depicted by Orwell The values of civilization are threatened by the onslaught of technology and militarisation The spirit of freedom, by the exce sses of the state The humanity of ordinary people is pitted against the awesome presence of the superman And yet the battle is not lost Our instinct for survival might yet see us through, say renowned political scientists (This is only if we are willing to strengthen the counter-friends that exist, if we are prepared to carry on the war despite the tremendous odds This requires not just courage but political will Do we have it ?

The actual 1984—Rapid militarisation—In brief, as we step into 1984, the shadow of militarisation in getting more menacing than ever High technology is displacing lower' forms of technology and underming the value of the human being as a productive force while relegating him as a passive consumer of packaged life styles lustred through the mass media A growing convergence of national economies-North and South, East and west, impelled by this technology and the universal appeal of this consumerism is 'transnationalizing' human society towards a homogeneous vision of growth and prosperity The conflictual impulse in hiarorical change is taking the form of an increasing dualism of the human polity, both vertica lly and horizontally The forces of multilateralism (globally) and

pluralism (locally) are getting weakened under the impact of new doctrines of world domination and control over neutral resources for retaining given or desred life styles for the 'haves' and their denial to the 'have-nots' both between and within societies, and new theories of 'management' and hegemony are taking hold of the public space, increasingly depoliticised, arising out of a shared fear of the poor and the powerless and of the spectre of violences and terrorism.

The 1984 visualized by George Orwell in 1948—These were precisely the elements that went into the construction of the night-mare of George Orwell's 1984. His conceptualization of these elements was some what different than the real 1984. But it is still sufficiently close to reality. It should be kept in mind that these ideas were projected in 1948........ A full 36 years ago !

Orwell himself stated emphatically, "I do not believe that the mied of society I describe necessarily will arrive, but I believe that something resembling it could arrive." Thus for instance, whereas the spectre of totalitarianism encompassed all other characterizations of his, the spectre that wants the present is more of a breakdown both of the national polity and civil society, producing in its wake a state of insecurity at all levels that is engineering the build up of a series of regions of security both against presumed enemies and against the people at large-in some ways a far more frightening and potentially fatal situation than the one depicted by Orwell.

Differences between the satire and reality—In essence, the condition of the human predicament is not very different as between the stair and reality. For as we step into the real 1984, we seem to be entering the last ditch phase of the strsggle for democratic values as mentioned afore, against tolalitarian tendencies depicted by Orwell-the values of civilization before the onslaught of technology, the spirit of freedom before the excesses of the state, the humanity of ordinary men and women against the awesome presence and aura of the super human being.

The battle is not yet lost. There are three misunderstandings about 1984. Prophetic thought it my appear, it was not a prophecy about the year 1984. The precise year was in any case not important. 1984 was not a linear concept that was scientifically 'predicted'. It was in the form of aparody, a satire, a catalytic piece written. Secondly, it was neither a satire about communist society not just an attack on socialism gone sour, an impression that seems to have heartened conservatives among liberals and invited the wrath of radicals. It was more an attempt to portray basic tendencies of his time and the times that seemed to be unfolding before him.

And finally, deeply pessimistic though its plot was, it was not meant to be the drawing of a curtain on the human enterprise As himself pleaded :- "Don't let it happen It depends upon you." The reality in fact is that we may still lose the battle but we cannot afford to assume its loss. On the other hand, we dare not roman-

ticize the present which is far worse than ro nansticizing either the past or the future

For in many ways the trends a foot are in their totality if not in their individuality, more ominous than Orwell's could have forseen, though there are potentially powerful counter-trends as well which however are still very weak and are in some ways weakning further

Acute problems of 1984 and some remedies—There is under way a far more comprehensive process of militarisation of the global economy and technology and large parts of the global political process than had been envisaged in 1948 Simultaneously with this, there is under way a growing incorporation of various material and local economies into the world market which is at the same time pauperising millions of people rou nd the world no longer only in the third world Even the power and prosperity of parts of the world peripheries are being subje ted to the same process, such as the recycling of petrodollars and other offshoots of Third World nationalism through gigantic arms sales on the one hand and renewal of the old paradigm of development, free market, monetarism and export led growth on the other Mean while, major technological shifts have led to displacement and layoffs of large numbers of people, robotization of the productive process and massive ecological destructions of rural hinter lands and habitats affecting the life chance of millions of marginalised populations, including fairly widespread ethnocide and threat to the very survival of cultures.

Just the human scerario that is emerging in physical terms without specific reference to political tendencies is frightening. While percentages very, between a fifth and a third of the population, of all but a few of third world nations face the prospects of gradual extinction Wheter it be availability of food and nutrition, or rccess to shelter and habitation, or just physical health and vulnerability of disease, epidemics and natural disasters, or the sheer *sense of* personal security in whatever space one inhabited (the segregated in rural areas or the pavement dwellers in the cities or growing hordes of refugees every where) on all these indices the scale of human oppression is on the increase

The growing indifference of the upper classes to draughts and flood, as compared to earlier years, is an expression of this as yet inarticulate but steadily rising instinct for annihilation of fellow beings

At a deeper level of instinct and intellect this is found among ordinary people too Each morning the news papers carry tales of atrocities, of rape and brinde burning, *of* political murders, of inhuman excesses in the jails This despite the fact that our newspapers carry so little of the plight of the oppressed and those who wage struggle on their behalf

So we can see that Orwell's year 1984 as visualized by him in 1948 is quite close to realit (rather ...

especially in India, we are realizing the we have not needed to Orwell's warning, and India too, is in the clutches of the wave of technology and militarisation. It has not been spared from Orwell's ominous prophecy. The 'struggle for freedom' in whose cause Orwell based his entire parody was never as near peril as in this real 1984, not his imagined and satirised 1984. And yet never was freedom so deeply desired and striven for, especially in poorer parts of the world, and there too especially among the poor and the dispossessed. □

Industrialization In Rajasthan

Rajasthan today presents a Kaleidoscope of inspiring industrial sights. Bull-dozens breaking new ground for industrial areas, Projects taking shape in sent and concrete. Factory sirens announcing the dawn of a new era of industrialization. Indeed, the landscape is fast changing to industrial from agro-pastoral.

Rapid Industrialization —There are already more than hundred and fifty large and medium scale projects in production. Quite a few of them, the largest or the first or the most sophisticated in their own fields Synthetics, chemicals. electronics, automobiles. General engineering, to name a few fields.

There are six thousand registered factories and sixty thousand small and ting units, constitution the gross-roots of industrialization. Pulsating with life and enthusiam. Spread for and wide, to every nook and corner of the state, spreading a culture of industrilization. Then, there is the strategically located wide net work of technical training institutes, turing out the human input for industry, through just the right mould.

Rajasthan has, indeed, come a long way from a sandy, sunbaked stretch. And yet it presents a refreshing contrast to the congestion, pollution and the wild rush of the metropolises. You can heathe in the sweet fragrance of pollen right in your own factory compound. And, more often than not, yon can take a a leisurely walk along a quiet road, leading upto your factory. Something you only year for in the big, bewildering cities, bursting at the seams.

There are more than a hundred industrial Areas all over the state. They are situated all along the National Highways, and also all along the railway tracks. They are made in such a way, so that they are dotting all the potential growth cities, Providing fully developed infrastructure, lovelled land, enough water and power common facilities like bank, post office,

telephone, commercial complex, transport, dispen ary, police out-post, weigh bridge among the many others

It is the Rajasthan State industrial Development and Investment Corporation Limited, that develops entire infrastruature and allots land to industries It has its offices at a dozen places in the state where its Resident Engineers sender services to entrepreneurs

The Udyog Bhawan and RIICO—All the industrial development and investment oaganisationi at the state capital are located within one buildind called the Udyog Bhawan Thus deciding matters like a turnkey job The District Industries centres in the various districts reflect the same culture A vibrant and purpose-full Government machinery thus backs the moves and assists any project at all levels.

RIICO is the open organisation for industrial development and investment, with an authorised capital of more than Rs 250 million As a state Government undertaking, it provides all the governmental cover to a project At the same time it allows a unique flexibility for entreprrneurs to manage their own projects

RIICO develops industrial areas, allots land to industries, provides a package of financial assistance to medium and large scale projects, obtains letters of Infent, Liceuse etc and implements projects in public, joint and assisted Debtors,

RIICO has completed a century of project promotion To b precise a hundred and seven of its projects are in production today, though total projects being worked upon number a hundred and forty five

Fighty of its projects are located in the notified backward districts Of these seventy are in the central subsidy districts These projects embrace a multitude of disciplines, such as textile, general engineering, electronics, ceramic, chemical, mechanical electrical, mineral based, wood based among others Efforts made to promote projects involving sophisticated technology have yielded good dividends, and some of them are first of their kind in India as a whole, like for the manufacturer of copper Foils and copper-clad Laminates, Glyonal, Electronic milk testers and Industrial Explosives

Projects and thesr Manufactured goods—A total of 1 5 lakh spirdles have been imlemented through a dozen projects for manufacture of synthetic and blensed yarn. They have calalysed

an investment of Rs. 1500/ million, employing about 10,000 persons directly. These mills have sprouted growth of looms, provesshouses and other subsidary units like for manufacture of seewing threads.

Rajasthan possesses about one third of the total sheep population of India. Based on this rich resource, 10 woolen yarn mills have been brought up. Their total investment is about Rs. 45 million Each one has provided a filling to the local carpet industry. And carpets are quite catchy export items.

Ten thousand ton slurry explosives, 15 million numbers of detonations, and a million metres of detonating fuses, the tuple-action oriented project is unique for the country to meet requirements of explosives for mining, irrigation and defence purposes, Its cost is Rs. 56 millions.

The import substitution project proves that India has attained a high level is developing its own technology for such a sophisticated product, having wide applications, from drugs to weather-resistant point The 900 ton capacity unit has a cost of Rs. 23 million.

The Rs. 12 million project for drugs basically aims at formulation of drugs being used commonly by the masses. In this way, from a large variety of propucts, ranging from copper foils to television sets, Rajasthan has started manufacturing them all and much more.

The Punjab Crisis

India is passing through the gravest crisis in its political history since Independence. We are at the threshold of a repetition of what happened to Pakistan in 1971, when Bangladesh emerged as a separate nation. Punjab could become India's Bangladesh, though for different reasons.

The Revolt—The Akali's led by sant Longowál, have been revolting against the Government since the last two years. They have killed countless innocent people, Nirankaris and many police personnel. They are opposed by Bhindrawala's faction. There was a lot of bloodshed and violence. Their main demands are as follows :—

The first one consits of there wanting Chandigarh as a part of Punjab only and not remaining a capital of Haryana state. At present, due to the long dispute Chandigarh is a Union Territory ruled by the Central Government of India. There are

other demands too taking whicht hey embarked on an orgy of violence Many men were gunned down

Their demands–Khalistan—The Akali Dal's demands consist mainly of Khalistan and the other demands centre around it One demand is that there should be formation of an All India Guru dwara Act which should be applicable to all ancient Gurudwaras (rather, historical Gurudwaras) This means that the Prime Minister has to consult other states etc, and the Sikhs take this to mean that she is anti-Sikh.

The second demand is that the distribution of the water of the Ravi–Vyas should be according to the wishes of the Akalis Ravi and Vyas are revulets connected to the Sindhu river The Akalis say that the waters of the Ravi and Vyas should not be distributed to either Pakistan, Rajasthan or Haryana and only Punjab has the moral right to them They maintained that the Government of India turned a deaf ear to the facts

An important demand is that they want Chandigarh, And in retnrn for that they (Punjabis) don't want to give Abohar and Fazilka, to the Haryana Goverment They want to make s perate Khalistan for the Sikhs comprising Punjab They don't believe that the s cular policies of the Government of India are genuie And that is not the least, they also want the areas of parts of Himachal Pradesh, Uttar Pradesh and Rajasthan, where Punjabi is spoken and sikhs habite These were their demands taking which the Akalis kept of activating violence, and murders They killed the Nirankari Baba Gurbachan Singh in April 1980, and then Lala Jagat Narayan in 1981 among many others

Government's Stand–The Government of India first kept prolonging any action and no fruitful talks also came out She was also partly responsible for the increase of violence and disruption in Punjab She never came up with any long–lasting solution to the Punjab crisis but just make do decisions Her unforsighted–ness cost the lives of many faul less victims The situation got worse day by day and the Governmenr failed to take a firm stand on the issue Gyani Zail Singh former Home Minister of India and Darbara Singh the Chief Minister of Punjab al o messed up the situation with their gros, political manoevres/mistakes

Indira Gandhi then tried to solve problems or killing many birds with one stone, by making Gyani Zail Singh the President of India Try this, is could not be said that shw was partical to the Sikhs and their problems and the Akalis, being

Sikh could not oppose him, and thirdly, an important position of the Government was held by a Sikh. She felt that the Siks could be parified by this. But it was not to be. This was no permanent solution to the problem and the situation gradually worsened. Then finally it occurred to the Government to take strong action. without which there was danger to the whole country.

The Army Takeover–After 22 months of the real agitation, Indira Gandni decided to give the situation in the hands of the Indian Army. On the night of 6th June 1984, wednesday at around 10 30 p.m. The army took over most part of the Golden Temple. There was a fierce battle between the Army and the extramists in which two hundred and fifty extremists were killed and sixty Jawans were killed, In addition to this, four hundred and fifty extremists were taken prisoners and an additional three hundred social bad elements were captured.

The Akali leader Sant Longowal and Tohra both surrendered themselves to the Police. There was a literal war against Bhinderwala who died in the clash. He had taken refuge in the Akal Takht roughly around three months ago. There were a large number of arms and ammunition stored in the Akal Takht and the Harmandir Sahib, the main seat of the whole Golden Temple complex. There were tanks. hand grenades. machine guns, L. M. G.'s, and cannons. There was immense firing from their side and the Army also had to equally respond, because they were suffering heavy casualties.

The Jawans were in-structed not to fire at the Harmandir Sahib or the Akal Takht, but they received very crippling fire from those areas. It was quite a task to control the firing towards the Harmandir Sahib.

Longowal and Tohra were sent to Jodhpur Jail, and after the exacuation of the Golden Temple complex, of the texorists/ extremists, the Army set to mork to clean up the sacred place. They got the Granthis back into the Temple and repaired the holes and the damage done to the Golden Temple by the extremists and that which was done during the Encounter.

Now there is still hope and Punjab repuires a healing touch. The Government is trying to instill a sense of peace in the strife-torn state and to try and get things back to normal, as soon as possible.